हिमाचल का साहित्यिक परिदृश्य: शिमला डायरी

Pramod Ranjan

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan. हिमाचल का साहित्यिक परिदृश्य: शिमला डायरी. 2019, 9789387441385. ⟨hal-03853352⟩

HAL Id: hal-03853352

https://hal.science/hal-03853352

Submitted on 15 Nov 2022

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution - NonCommercial 4.0 International License

(फ्लैप 1 का शेष)

किताब का सबसे आकर्षक हिस्सा लेखक का रोजनामचा या डायरी है। यह उसकी निजी डायरी होते हुए अपने समय के इतिहास को दर्ज करती जाती है। जहां एक ओर लेखक के जीवन के उतार-चढ़ावों और दुःखों-सुखों के क्षण दर्ज हैं, वहीं हिमाचल के समाज के विविध चित्र भी मौजूद हैं। सच तो यह है कि लेखक डायरी खुद से शुरू करता है; लेकिन कब वह पूरी दुनिया का चक्कर लगा आता है, शायद लिखते समय उसे भी इसका अहसास नहीं रहा होगा। इस चक्कर लगाने की प्रक्रिया में वह देश-दुनिया के साहित्य के साथ सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक गतिविधियों और परिवर्तनों पर टिप्पणी भी करता चलता है। इस डायरी में देश-दुनिया के विभिन्न कवियों की श्रेष्ठ कविताओं के उद्धृत अंश पाठकों को कविता की दुनिया की एक यात्रा करा देते हैं। वस्तुतः यह पुस्तक एक साहित्यिक कोलाज है, जिसमें जीवन के विविध रूप-रंग समाहित हैं।

प्रमोद रंजन ने हिंदी समाज के सांस्कृतिक और साहित्यिक विमर्श को नए आयाम दिए हैं। वे हिंदी समाज-साहित्य को देखने-समझने के परंपरागत नजरिए को चुनौती देने वाले लोगों में से एक हैं।

रंजन ने अपनी वैचारिक-यात्रा पत्रकारिता से शुरू की, जिसका अहम पड़ाव शिमला था। इस क्रम में उन्होंने 2002 से 2005 तक शिमला और कांगड़ा में रहकर विभिन्न समाचार पत्रों में काम किया। इनमें सांध्य दैनिक भारतेंदु शिखर, साप्ताहिक ग्राम परिवेश, दैनिक भास्कर, अमर उजाला तथा दिव्य हिमाचल शामिल हैं। वे हिमाचल से प्रकाशित विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं तथा संगठनों से भी संबद्ध रहे। बाद के वर्षों में उन्होंने हिमाचल प्रदेश के दुर्गम जनजातीय क्षेत्रों की यात्रा कर प्रदेश के समाज और संस्कृति का अध्ययन किया। उनकी साहित्यिक-वैचारिक सक्रियता ने हिमाचली साहित्य की तत्कालीन पीढ़ी को गहराई से प्रभावित किया।

रंजन ने जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से 'फणीश्वर नाथ रेणु की पत्रकारिता के सामाजिक-सरोकार' विषय पर एमफिल तथा 'अद्विज हिंदी कथाकारों के उपन्यासों में जाति-मुक्ति का सवाल' पर पीएचडी की है। संप्रति वे 'फारवर्ड प्रेस', नई दिल्ली के प्रबंध संपादक हैं।

संपर्क : janvikalp@gmail.com

The Marginalised Publication

₹350

ISBN : 978-93-87441-38-5

साहित्य और समाज

हिमाचल का साहित्यिक परिदृश्य | शिमला डायरी | प्रमोद रंजन

हिमाचल का साहित्यिक परिदृश्य

शिमला डायरी

यह किताब 21वीं सदी के पहले दशक में हिमाचल प्रदेश के साहित्यिक परिदृश्य का एक आत्मीय अवलोकन प्रस्तुत करती है। लेखक ने हिमाचल प्रदेश के साहित्य एवं पत्रकारिता की दुनिया का एक आलोचनात्मक अध्ययन किया है। इसमें एक ओर जहां यशपाल अपने ताप-तेवर के साथ सामने आते हैं, तो दूसरी ओर निर्मल वर्मा अपनी कलात्मकता की सामर्थ्य एवं सीमाओं के साथ पाठकों के सामने उपस्थित होते हैं। पर्यटक-मानसिकता के लोगों के जेहन में हिमाचल प्रदेश सिर्फ एक खूबसूरत प्राकृतिक दृश्य वाले प्रदेश का बिम्ब रचता है; लेकिन आम आदमी को केंद्र में रखने वाले युवा लेखक प्रमोद रंजन की टिप्पणियों में यह प्रदेश अपनी बाह्य खूबसूरती के भीतर छिपाए सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक बिडंबनाओं, विद्रूपताओं और अपनी राजनीतिक कुरूपता के साथ सामने आता है। लेखक ने अपने लेखों और डायरी के पन्नों पर इसके विभिन्न रूपों को दर्ज किया है।

(शेष अगले फ्लैप पर)

शिमला डायरी

शिमला डायरी

प्रमोद रंजन

ISBN : 978-93-87441-38-5
प्रथम संस्करण : 2019

प्रकाशक : द मार्जिनलाइज्ड पब्लिकेशन
इग्नू रोड, दिल्ली-110068
(पंजीकृत कार्यालय : सानेवाड़ी, वर्धा
महाराष्ट्र-442001)
ईमेल : themarginalised@gmail.com
संपर्क : +91-9650164016, 8130284314

© प्रमोद रंजन

कवर : पवन कुमार
मुद्रक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा
दिल्ली-110032

शिमला डायरी
प्रमोद रंजन

SHIMLA DAIRY
by PRAMOD RANJAN

आज के नाम
और आज के ग़म के नाम
किर्मख़ुर्दा दिलों और ज़बानों के नाम...

— फ़ैज़ अहमद 'फ़ैज़'

अनुक्रम

भूमिका

साहित्य और पत्रकारिता का आरंभिक पड़ाव 09

खण्ड 1 : डायरी

हम स्वप्नों की तलाश में गए थे पहाड़ों की ओर 23

खण्ड 2 : कविताएं व कहानी

शिमला में हिमपात व अन्य कविताएं 71
रामकीरत की रीढ़ (कहानी) 82

खण्ड 3 : आलोचना

विपाशा के कविता अंक से गुजरते हुए 91
भूमंडलीकरण के मेले में पहाड़ 96
भाई वाह! अच्छा तमाशा है 102
सूत न कपास, जुलाहों में लट्ठम-लट्ठ 105
यशपाल के हिमाचली होने का अर्थ 111
चयन के विकल्पों पर ताला 113

खण्ड 4 : पौड़ियों के अरे-परे

(समाचार पत्रों के लिए लिखी गईं टिप्पणियां)

एक अदद फुन्नन मियां 119
दूर की कौड़ी 121

शिमला की संन्यासिन सरोज 123
वह प्रेम 125
निर्मल और शिमला 128
अभी सबसे श्रेष्ठ होना बाकी है 130
जनतांत्रिक संस्कृति 132
लोअर बाजार 133
मध्य युग की हिंसक सेना 134
हिमाचल में वाम चेतना 136
मुश्किलें इतनी पड़ीं कि आसां हो गईं 138
चुनावी वादों की बरसात बेअसर 139
इधर से ही काफिला-ए-इंकलाब गुजरेगा 140
राष्ट्रीय संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं होती 142
साहित्यिक पत्रकारिता 144
अपनी पीढ़ी से 145
मीडिया और मुस्लिम 146

खण्ड 5 : मौखिक-इतिहास

किन्नौर में बौद्ध धर्म, जाति-प्रथा और राजनीति 153
एक जोमो का जीवन 184
लाहौल घाटी में अवलोकितेश्वर, गुरु घंटापा, शिव और काली 191
पांगी घाटी में नाग, भूत और गोम्पा 207

भूमिका

साहित्य और पत्रकारिता का आरंभिक पड़ाव

यह कहानी शायद वर्ष 2000 के शुरुआती महीनों से शुरू हुई थी। उन दिनों पटना में रहा करता था और नौकरी की तलाश में था। स्थानीय अखबारों में कभी-कभार अम्बाला के 'कहानी लेखन महाविद्यालय' का विज्ञापन आया करता था। किसी अखबार से पता लेकर 'महाविद्यालय' को पत्र लिखा और उनसे इसकी कार्यपद्धति के बारे में जानकारी चाही। उत्तर में मुझे 'महाविद्यालय' के सर्वेसर्वा डॉ. महाराज कृष्ण जैन द्वारा हस्ताक्षरित एक परिपत्र मिला, जिसमें कहानी-लेखन कोर्स के पाठ्यक्रम, उसकी फीस और कहानी लेखन से होने वाली संभावित आय आदि का ब्योरा था।

पत्रों का वह सिलसिला आगे बढ़ा। कुछ महीनों बाद डॉ. महाराज कृष्ण जैन का पत्र आया कि वे जून, 2001 के पहले सप्ताह में हिमाचल प्रदेश के सोलन में चार-पांच दिन के 'कहानी-लेखन शिविर' का आयोजन करने जा रहे हैं। उन्होंने लिखा कि अगर चाहूं तो शिविर में आ सकता हूं। उस समय तक मैं लेखक बनने का प्रण कर चुका था; साथ ही फोटोग्राफी में भी मन रमता था। हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं का घनघोर पाठक था; कविता, कहानी, आलोचना और अन्य वैचारिक साहित्य की पुस्तकों का अंबार घर में बढ़ता जा रहा था। लेकिन, मेरा परिचय सिर्फ साहित्य से था; पटना में किसी भी लेखक से व्यक्तिगत तौर पर जान-पहचान नहीं थी।

लिहाजा लेखकों को नजदीक से देखने के लोभवश मैंने सोलन जाने की ठानी। हालांकि, यह दुरूह कार्य था; खासकर आने-जाने के किराए और शिविर में भाग लेने की फीस का इंतजाम करना। मैंने कहानी लिखना सीखकर होने वाली आय का हवाला दिया और पिताजी से जाने की जिद की, तो वे बहुत अनमने ढंग से ही सही, पर मान गए।

उस शिविर में कोई 15-17 लोग रहे होंगे। यह साहित्य की एक अलग दुनिया थी; जो प्रगतिशील, मार्क्सवादी रुझान वाली उन पत्रिकाओं से अलग थी,

जिन्हें मैं पढ़ा करता था। बहरहाल, इस शिविर में बाल-साहित्यकार सैन्नी अशेष और व्यंग्यकार सुभाष चंदर से मुलाकात हुई। शिविर सोलन के निकट डॉ. वाई. एस. परमार यूनिवर्सिटी हॉर्टिकल्चर एंड फॉरेस्ट्री के गेस्ट हाऊस में चल रहा था। वह हिमालय की गोद में बसा एक सुरम्य स्थल है। वहां मैं 22 बरस की उम्र में पहली बार पहाड़ देख रहा था। निकट से गुजरते बादलों को देख तथा जून के महीने में गुलाबी ठंड के स्पर्श से अभिभूत था।

शिविर के दूसरे दिन शाम में मैं, सैन्नी अशेष और सुभाष चंदर टहलने निकले, तो घाटी में बहुत दूर दिख रही एक छोटे-से मकान की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा कि अगर जीवन ने अवसर दिए, तो ऐसी ही किसी जगह झोंपड़ी बनाकर रहूंगा।

तब तक मैं अशेष और चंदर जी को अपनी बेरोजगारी के बारे में बता चुका था। अशेष जी ने बात लपक ली। उन्होंने कहा कि अगर तुम ऐसी जगह पर रहना चाहते हो, आ जाओ बच्चू यहीं। मेरे साथ रहना। अशेष हिमाचल प्रदेश के मंडी शहर के रहने वाले हैं। वे कभी प्राइमरी स्कूल में शिक्षक हुआ करते थे। लेकिन, कई वर्ष पहले ही स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेकर स्वतंत्र लेखन कर रहे थे। उन दिनों वे मंडी के निकट गोहर घाटी में अकेले रहते थे तथा पत्र-पत्रिकओं के लिए पर्यटन-फीचर लिखा करते थे। उनका प्रस्ताव था कि हम हिमाचल की सुदूर वादियों में घूमेंगे, फोटोग्राफी करेंगे तथा पत्र-पत्रिकाओं के लिए फीचर लिखकर काम-भर के पैसे कमा लिया करेंगे।

मेरे पास बड़े-बडे लेंसों से लैस एसएलआर कैमरा हुआ करता था, जो उस समय भी मेरे साथ था। उनके इस प्रस्ताव के पीछे शायद एक फोटोग्राफर के सहज उपलब्ध हो जाने का आकर्षण भी काम कर रहा होगा। मैंने उनके प्रस्ताव पर सहमति जताने में देर नहीं लगाई और तय हुआ कि सितंबर तक मैं बिहार से बोरिया-बिस्तर समेटकर उनके पास गोहर आ जाऊंगा।

हालांकि, कहानी-लेखन महाविद्यालय के शिविर का अंत बहुत दुःखद हुआ। महाराज कृष्ण जैन की योजना थी कि शिविर के तीसरे दिन–5 जून, 2001 को हम पास की एक ऊंची सुरम्य चोटी पर पिकनिक के लिए जाएंगे। सभी लेखक एक छोटी-सी बस में सवार हुए और जैन अपनी पत्नी उर्मि कृष्ण व ड्राइवर के साथ निजी कार में। हम कुछ ही किलोमीटर आगे बढ़े थे कि अचानक डॉ. जैन को हृदयाघात हुआ। उन्होंने वहीं दम तोड़ दिया। हम सबके लिए यह एक ऐसा आघात था, जिसके बारे में किसी ने कल्पना तक नहीं की थी। उर्मि कृष्ण ने इस कठिन घड़ी में जिस प्रकार के साहस का परिचय दिया, उसने मुझे जीवन को एक

नजरिए से देखना सिखाया।

डॉ. जैन के दोनों पैर बचपन में ही पोलियो-ग्रस्त हो गए थे। वे चल-फिर नहीं सकते थे। एक श्रीमंत परिवार में पैदा हुईं उर्मि का डॉ. जैन से पहला परिचय उनकी कहानियों के माध्यम से हुआ था। परिवार के विरोध के बावजूद उन्होंने डॉ. जैन से विवाह किया था। मंझोले कद की उर्मि जी स्वस्थ व सुंदर शरीर की मालकिन थीं। उन्होंने एक तरह से डॉ. जैन को आजीवन अपनी गोद में रखा। जैन बहुत दुबले-पतले थे। उनका वजन भी बहुत कम था। वे उन्हें गोद में उठाकर नहलातीं; लिखने की कुर्सी पर बिठातीं; जब उन्हें कहीं जाना होता, तो उर्मि जी उन्हें गोद में उठाकर कार में डालतीं। कहानी-लेखन महाविद्यालय की बौद्धिक-व्यावसायिक प्रेरणा भले ही डॉ. कृष्ण की रही हो, लेकिन उर्मि जी ने अपनी मेधा और श्रम से उसे सींचा।

डॉ. जैन के निधन से उपजी उदासी और भावविह्लता के बीच हम सब अपने-अपने शहरों की ओर लौट गए। लेकिन, अशेष जी से मेरा पत्र-व्यवहार चलता रहा।

जैसा कि तय हुआ था, मैं सितंबर, 2001 में चार बोरी किताबें और अन्य साजो-सामान के साथ लेखक-फोटोग्राफर बनने की नीयत से पटना से हिमाचल प्रदेश की ओर रवाना हो गया। वर्ष 1999 में ही अर्चना और मैंने विवाह कर लिया था और वर्ष 2000 में हमारी बिटिया कीर्ति भी हो चुकी थी। यह प्रेम-विवाह था; मेरे घर वालों ने इसे मान्यता तो दे दी थी, लेकिन दांपत्य जीवन को चलाने के लिए किसी प्रकार का सहयोग देने से साफ मना कर दिया था। विवाह के समय मैं दिल्ली यूनिवर्सिटी के हंसराज कॉलेज में बी.ए. का छात्र था। विवाह के बाद पिता के दबाव के कारण मुझे पढ़ाई भी बीच में छोड़कर दिल्ली से वापस लौटना पड़ा था। अब परिवार के पालन के लिए अर्थोपार्जन की अत्यधिक आवश्यकता थी; उसी के लिए मैं निरंतर हाथ-पांव मार रहा था।

अशेष का ठिकाना जिस गोहर घाटी में था, वह हिमाचल के मंडी जिले का भीतरी इलाका है। पर्यटकों की नजरों से दूर एक खांटी ग्रामीण क्षेत्र। मैं पटना से 1000 किलोमीटर का सफर तय करके दिल्ली पहुंचा। दिल्ली से मंडी शहर की बस लेकर नेर चौक, वहां से दूसरी बस से चौल चौक और तीसरी से गोहर। गोहर पहुंचने के बाद मुझे अशेष जी के ठिकाने तक पहुंचने के लिए दो किलोमीटर की चढ़ाई चढ़नी थी। कुछ स्थानीय लोगों के सहयोग से मैं चार बोरी किताबों के बोझ तले दबा अपने घर से 1400-1500 किलोमीटर दूर किसी प्रकार गिरता-पड़ता उन तक पहुंचा। वहां लोग उन्हें संन्यासी बाबा के नाम से जानते थे। एक बाबा, जो

थोड़ा-थोड़ा पत्रकार भी था और स्थानीय अखबारों में जिसके लेख फीचर पृष्ठों पर प्रमुखता से छपा करते थे।

अशेष स्वयं को घुमक्कड़-लेखक कहा जाना पसंद करते हैं। वे ओशो और रावी से प्रभावित हैं; लेकिन दोनों की आलोचना करने से परहेज भी नहीं करते।

गोहर में अशेष जी के जिस मकान में मैं पहुंचा था, वह किराए का था; जिसकी बाहरी दीवारों पर उन्होंने पेंट से 'मनमुक्ता मिस्टिका' लिखा था। यह एक ही साझे शौचालय-स्नानागार वाला चार कमरों का एक बेहद साधारण मकान था, जिसे वे कुछ-कुछ आश्रम जैसा स्वरूप देकर रहस्यमय बनाने की कोशिश करते रहते थे। वे 'ओशो टाइम्स' में विज्ञापन देकर लोगों को वहां ध्यान और प्रवास के लिए आमंत्रित करते तथा आने वालों से एक न्यूनतम फीस वसूलते। लेखन के साथ-साथ उनकी आय का यह जरिया था। इस सबको मिलाकर भी उनकी आय बस इतनी थी कि वे किफायत से रहते हुए अपना पेट पाल सकें।

स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति के बाद उन्हें पेंशन मिलती थी, जिसे वे पूरा-का-पूरा निचले हिमाचल के शहर पावंटा साहिब में बसे अपने परिवार को दे देते। उनकी पारिवारिक जिम्मेदारियों में पत्नी के अतिरिक्त एक बेटा और एक बेटी शामिल थे। अशेष के भाई व अन्य परिजन मंडी शहर में पैतृक मकान में रहते थे। अशेष जी की पत्नी भी विवाह के पूर्व कभी उनकी कहानियों की पाठिका और पत्र-मित्र रही थीं।

उनकी पत्नी ने ही अशेष जी की इच्छा न होने के बावजूद पावंटा साहिब में मकान बनवाया था। मकान बनाने के लिए लिए गए कर्ज को चुकाने के लिए ही उन्होंने स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति लेने का फैसला किया था, ताकि सेवानिवृत्ति के बाद मिलने वाली एकमुश्त राशि से कर्ज चुका सकें और पारिवारिक जिम्मेदारियों से मुक्त हो सकें।

गोहर स्थित अशेष की 'मनमुक्ता मिस्टिका' में जब मैं पहुंचा, उस समय अपराह्न के तीन-साढ़े तीन बज रहे थे। अशेष एक काला चोगा पहने अपने कमरे में विराजमान थे। पटना में तो अभी भी गर्मी थी, लेकिन यहां दोपहर ढलते-ढलते सिबसिबी ठंड होने लगी थी। मैं अशेष जी से अपने स्वागत की उम्मीद लगाए बैठा था; लेकिन उस निर्जन में इतने सारे सामान को उठाए सुदूर बिहार से चले आए एक नौजवान की अपने सामने मौजूदगी को देखकर उनमें कोई खास हलचल नहीं हुई। उन्होंने बिलकुल ठंडेपन से अंदर सामान रखने को कहा तथा मुझे नहा-धो लेने का निर्देश दिया। भूख के मारे में मेरा बुरा हाल था। मैंने सोचा कि

स्नान के बाद शायद वे कुछ-न-कुछ भोजन का प्रस्ताव अवश्य देंगे। लेकिन, जब तक मैं नहाकर निकाला, तब तक वे भी अपने वस्त्र बदल चुके थे। काले चोगे का स्थान अब मरून चोगे ने ले लिया था। उन्होंने कहा कि घूमने चलोगे न? अपने मेजबान, जो कि अब मेरा बॉस भी था; को न कहने का विकल्प तो मौजूद था नहीं; इसलिए मैंने हामी ही भरी।

हम उस मकान के पीछे के घने जंगलों की ओर चले। रास्ते-भर वे मुझे चीड़, देवदार, कैल आदि वृक्षों की पहचान करवाते रहे तथा उनकी विशिष्टताएं बताते रहे। इस दौरान उन्होंने सर्प बूटी, बिच्छू बूटी आदि अनेक औषधियों से परिचित करवाया। करीब एक-डेढ़ घंटे के इस जंगल-भ्रमण के दौरान ठंड बढ़ने लगी और शाम का झुटपुटा घिरने लगा, तो हम लौट चले।

मेरी भूख तो मर चुकी थी; लेकिन सुबह से ही भोजन न कर पाने का मलाल मन के किसी कोने में अवश्य दबा हुआ था। लौटते समय वे एक गांव की ओर मुड़े। हिमाचल में आठ-दस घरों के छोटे-छोटे गांव होते हैं। यह भी ऐसा ही एक गांव था, जहां शुरू में ही परचून की एक दुकान थी। दुकानदार ने बाहर रखी एक बोरी में भुनी हुई साबुत मूंगफलियां रखी थीं। अशेष जी ने दुकानदार से पूछा कि 'मूंगफली क्या भाव दे रहे हो?' मुझे लगा कि अब कम-से-कम मूंगफली ही सही, कुछ तो खाने को मिलेगा। दुकानदार ने भाव बताया, जिस पर अशेष जी ने कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने बोरी से एक मूंगफली यूं ही उठाई और चल पड़े। थोड़ा आगे बढ़ने पर उन्होंने वह मूंगफली तोड़ी, तो उसमें मूंगफली का एक दाना था। उन्होंने उस दाने के दो टुकड़े किए और एक मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा 'मेरे साथ रहोगे तो ऐसे ही ऐश करोगे!' संकेत स्पष्ट था—भूखे रहेंगे, तो दोनों रहेंगे; कहीं कोई दाना मिलेगा, तो हम दोनों बराबर के हिस्सेदार होंगे।

अंधेरा होने से पहले हम उनकी मनमुक्ता मिस्टिका में लौट आए। मैंने सब्जी काटी, उन्होंने रोटियां बेलीं। रात का खाना हमने साथ खाया। जितनी रोटियां और सब्जी थी, हमने दोनों थालियों में बराबर-बराबर रखीं।

गोहर में हम अगले लगभग छह महीने तक साथ रहे। इस बीच मैंने खूब लिखा, फोटोग्राफी की, और खूब पढ़ा भी। हर सप्ताह 3-4 किताबें। दिन में सुखदायी धूप में छत पर लेटे-लेटे और शाम होते ही रजाई में दुबककर। उस मकान के आसपास दूर-दूर तक कोई आबादी नहीं थी। किसी किसान ने संभवतः अनाज-खाद आदि के भंडारण के लिए खेतों के बीच वह मकान बनाया था, जो अब हमारे काम आ रहा था।

लेकिन, मैं और अशेष अलग-अलग दुनिया के वासी थे। उनका मन रहस्यों

की दुनिया में रमता था; जबकि मैं मुकम्मल तौर पर इस दुनिया का आदमी था। उनकी रहस्यों की दुनिया में मेरी दिलचस्पी सिर्फ आश्चर्य भाव तक सीमित थी। उनमें उतरने का मेरा दूर-दूर तक कोई इरादा नहीं था। हम कई दफे झगड़े, एक-दूसरे को फालतू के कामों में फंसे होने के लिए उलाहना दिया और अंततः छह महीने बाद अलग हो गए। अशेष जी ने एक दिन अचानक फरमान सुनाया कि उन्होंने मनाली में हिडिंबा मंदिर के पास नए आश्रम के लिए किराए का मकान देख लिया है और अगले सप्ताह वहां शिफ्ट हो जाएंगे। मैं चाहूं, तो पटना लौट जाऊं; या फिर यहीं गोहर में बना रहूं। जैसी मेरी मर्जी। लेकिन, मनाली वे अकेले शिफ्ट होंगे।

मैंने गोहर में अकेले बने रहने का फैसला किया।

वहां रसद-पानी के लिए फीचर लेखन और कभी-कभार नाराज पिता द्वारा मनीऑर्डर से भेज दिए गए कुछ पैसों का सहारा था; अर्थोपार्जन के लिए मेरे पलायन के बाद वे ही बहू और पोती की देखभाल कर रहे थे। वे चाहते थे कि अगर मैंने प्रेम-विवाह किया है, तो स्वयं कमाऊं। लेकिन, वह तो यहां आकर भी संभव नहीं हो पा रहा था। हिंदी अखबारों में फीचर के पेज कम हो रहे थे और जो छपते थे, उनके भी पैसे कभी आते थे, कभी नहीं।

मैं अगले लगभग छह महीने तक वहीं अकेले बना रहा। भोजन से लेकर कपड़े तक सारे इंतजाम खुद और सिर्फ खुद के लिए किया करता। किसी दूसरे आदमी को देखे भी कई बार दो-दो, तीन-तीन दिन बीत जाते। नाई की दुकान दूर थी। अशेष जी से मैंने सीखा था कि शीशा देखकर अपने सिर के बाल खुद कैसे काटे जा सकते हैं। उन छह महीनों में मैंने अपने बाल भी स्वयं काटे। यह एक पंथ, दो काज का मामला था। अनावश्यक खर्च से भी बच जाता और कई किलोमीटर दूर बाजार में जाकर बाल कटवाने की जहमत भी नहीं उठानी पड़ती।

गोहर में मेरे एक मात्र मित्र विजय विशाल थे। जनवादी लेखक संघ से जुड़े, साहित्यिक पत्रिकाओं के घनघोर पाठक विशाल स्थानीय इंटर कॉलेज में प्राध्यापक थे। उन्होंने गोहर के नजदीक नेर चौक में घर बनाया था और वहां सपरिवार रहते थे। उनका भावात्मक संबल वहां अकेले टिके रहने में मेरा सबसे बड़ा सहयोगी था। आज यह सोचकर आश्चर्य होता है कि बिहार के आए एक युवक के उस गांव में बिना किसी निश्चित काम के अकेले रहने पर, जब उन्हें हैरत होती होगी, तो मेरे बारे में क्या सोचकर स्वयं को सांत्वना देते होंगे?

गोहर में रहते हुए मैंने राजकुमार राकेश का एक उपन्यास पढ़ा—'हवेली से बाहर'। संयोगवश उपन्यास के फ्लैप पर लेखक का फोन नंबर भी था। एक दिन

अचानक क्या मन हुआ कि स्थानीय बाजार के टेलीफोन बूथ से मैंने राकेश जी को उनके उपन्यास पर प्रतिक्रिया देने के लिए फोन कर दिया। उन्हें जब मैंने बताया कि मैं बिहार से हूं और गोहर में रहकर साहित्य का स्वाध्याय कर रहा हूं, तो वे स्वाभाविक रूप से बहुत आश्चर्यचकित हुए। उस समय तक मुझे नहीं पता था कि राकेश हिमाचल सरकार के अधिकारी हैं तथा उन इलाकों से अच्छी तरह परिचित हैं।

फोन पर हुई उस बातचीत के बाद मैं एक रोज राकेश जी से मिलने वहां से लगभग 150 किलोमीटर दूर शिमला गया। राकेश जी को मेरा गोहर में रहना उचित नहीं लगा। उन्होंने ही शिमला के बहुत प्यारे लेखक एस.आर. हरनोट से मेरा परिचय करवाया तथा उन दोनों के आकर्षण में खिंचा मैं शिमला आ गया। हरनोट ने मेरे शिमला शिफ्ट होने में हर-संभव मदद की।

गोहर में मेरा काम नाम-मात्र के पैसों से चल जाता था। लेकिन, शिमला तो प्रदेश की राजधानी है। वहां बिना नियमित आय के रह सकना संभव नहीं था। हरनोट जी ने मेरे शिमला आने से पूर्व ही अपने एक मित्र से मेरी नौकरी की बात कर रखी थी।

वह नौकरी थी- पुस्तकालय प्रभारी की। शिमला के माल रोड पर, आज जहां गेयटी थिएटर की नई इमारत खड़ी है, वहां नगर निगम के दफ्तर और गेयटी के बीच में उन दिनों एक कमरे का 'भारतेंदु पुस्तकालय' हुआ करता था। मेरी नौकरी रोज शाम में इसी पुस्तकालय को तीन-चार घंटे के लिए खोलने की थी। इस पुस्तकालय की स्थापना एक साहित्य-सुधी स्थानीय व्यवसायी ने की थी। उनके दिवंगत होने के बाद उनके पुत्र लोकेश सूद पिता के सपनों को पूरा करने के लिए तत्पर थे। उन्होंने भारतेंदु शिखर नाम से एक सांध्य दैनिक का प्रकाशन शुरू किया था।

कुछ समय पुस्तकालय के काम देखने के बाद लोकेश सूद ने मुझसे अखबार का काम भी देखने का आग्रह किया। वह तीन-चार स्टाफ वाला आठ पन्नों का श्वेत-श्याम टेबलाइड था; जो शिमला के लोअर बाजार में एक खोलीनुमा कमरे से चलता था। यह मेरी सक्रिय पत्रकारिता की शुरुआत थी।

एक छोटे-से अखबार का ही सही, मैं प्रकारांतर से कार्यकारी संपादक था और मेरे पास तीन-चार साथियों की टीम थी। इस सांध्य दैनिक का प्रसार दफ्तर के आस-पास स्थित बाजार तक सीमित था। लोकेश सूद की जिस इमारत के निचले तल पर अखबार का वह खोलीनुमा दफ्तर था, उसी के मध्य वाले तल पर पुराने तरीके की छपाई की मशीन लगी थी, जिस पर उसकी छपाई होती थी। ऊपरी तल

पर सूद अपनी पत्नी व बच्चों के साथ रहते थे।

अपराह्न तीन-चार बजे तक हम अखबार तैयार कर देते। उसके बाद एक युवा लड़का उन अखबारों की प्रतियां लेकर शिमला के दुकानदारों तक पहुंचा आता। सूद यह सुनिश्चित करते कि हर अंक विज्ञापन से संबंधित सरकारी दफ्तरों में अवश्य पहुंचे; क्योंकि अखबार से आमदनी का मुख्य जरिया सरकारी विज्ञापन ही थे। हालांकि, वे इतने नहीं मिलते थे, जिससे कि उस छोटे-से अखबार का भी पूरा खर्च वहन हो सके। सूद की छपाई की मशीन राजनीतिक दलों के बैनर-पोस्टर, शादी के कार्ड, कैलेण्डर आदि छापकर हमारे अखबार का खर्च निकालती थी।

भारतेंदु शिखर का कार्यभार संभालने के बाद मैंने उस नितांत स्थानीय अखबार को राष्ट्रीय फलक देने की सचेत कोशिश की तथा हर शनिवार को 'साहित्य विमर्श' नाम के दो पन्नों का परिशिष्ट निकालना शुरू किया। हम शनिवार के अंक को डाक से देशभर के करीब 300 प्रमुख लेखकों को भेज देते। डाक का खर्च बचाने के लिए मैं लेखकों से रचनाएं भेजने का आग्रह-पत्र भी उसी अखबार में भीतर रखकर भेजता। दरअसल, आरएनआई में रजिस्टर्ड अखबारों को डाक विभाग रियायती दर पर अखबार भेजने की सुविधा देता है। हम उसी का लाभ उठाते।

धीरे-धीरे देशभर के लेखकों की रचनाएं उसमें छपने लगीं। साथ-साथ मैंने हिमाचल प्रदेश के लेखकों, विशेषकर युवा लेखकों को भी इससे जोड़ने की कोशिश की। कुछ ही महीनों में दो पन्नों का वह परिशिष्ट गरमागरम साहित्यिक बहसें प्रस्तुत करने लगा, जिसने हिमाचल के युवा लेखकों में विचारोत्तेजना पैदा की। इस दौरान अर्चना और बिटिया कीर्ति भी शिमला रहने के लिए आईं। लेकिन, आर्थिक दिक्कतों के कारण हम अधिक समय तक साथ नहीं रह सके। उन्हें पटना लौटा देना पड़ा।

उन दिनों शिमला से महेंद्र प्रताप सिंह राणा 'ग्राम-परिवेश' नामक 10 पन्नों का साप्ताहिक टेबलाइड निकाला करते थे। भारतेंदु शिखर के बाद मैंने कुछ समय तक ग्राम परिवेश के लिए काम किया। राणा बिंदास और सहृदय व्यक्ति थे और साहित्यिक-वैचारिक किताबें पढ़ने के लिए हमेशा उत्सुक रहा करते थे। ग्राम परिवेश में भी मैंने अपना वह 'साहित्य विमर्श' परिशिष्ठ जारी रखा तथा उस साप्ताहिक के कुछ अंकों को 'मीडिया विशेषांक' के रूप में प्रकाशित किया।

अक्टूबर, 2003 में हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा ओर धर्मशाला के बीच स्थित पुराना मटौर नामक जगह से निकलने वाले दैनिक 'दिव्य हिमाचल' में चला गया। यहां आने का एक आकर्षण यह भी था कि इस बीच राजकुमार राकेश का

तबादला शिमला से धर्मशाला हो गया था। मुझे अपनी वैचारिक तृष्णा के शमन के लिए उन जैसे सुपठित व्यक्ति की सख्त आवश्यकता थी।

दिव्य हिमाचल अपेक्षाकृत बहुत बड़े बजट का अखबार था, जिसके मुख्यालय में 50 से अधिक लोग काम करते थे तथा प्रदेश के चप्पे-चप्पे पर इसके संवाददाता थे। प्रदेश में प्रसार की दृष्टि से अमर उजाला नंबर वन पर था; लेकिन दिव्य हिमाचल उससे थोड़ा ही पीछे था। दैनिक जागरण, दैनिक भास्कर और पंजाब केसरी क्रमशः तीसरे, चौथे और पांचवें नंबर पर थे। पहले कभी हिमाचल में जनसत्ता की धूम हुआ करती थी; लेकिन जब तक मैं हिमाचल पहुंचा था, तब तक उसका पतन हो चुका था और अब वह सिर्फ पुराने लोगों की स्मृतियों में जीवित था।

दिव्य हिमाचल के संपादक अनिल सोनी सरल और सहज व्यक्तित्व के स्वामी थे, जो अपने पत्रकारों के हितों का हरसंभव खयाल रखते थे। उसी अखबार के फीचर पेज पर प्रिया आनंद कार्यरत थीं। अगाध ममता और प्रेम से परिपूर्ण एक ऐसी स्त्री, जिन्होंने घरेलू प्रताड़ना का प्रतिकार किया था और स्वावलंबन की ऐसी राह चुनी थी, जिसे हमें भारतीय स्त्रियों के लिए आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। उन्हें मैं 'प्रिया दी' कहा करता था। वे जब हंसतीं, तो ऐसा लगता जैसे ताजी बर्फवारी के बाद खिलखिलाती धूप निकल आई हो और चारों ओर फूलों की बारिश हो रही हो। वे उत्तर प्रदेश की रहने वाली थीं। कम उम्र में ही ब्याह हो गया था; लेकिन उनकी रुचि कहानियां लिखने में थी। पति की प्रताड़ना से तंग होकर वे पहाड़ों की ओर निकल आईं और पत्रकारिता को अपना पेशा बना लिया। वे पति से डरती थीं कि कहीं वह यहां न पहुंच जाए। लेकिन, पत्रकारिता की ताकतवर दुनिया की सदस्य बनकर उन्होंने खुद को पूरी तरह सुरक्षित बना लिया था और उन्हें इस बात का गर्व था कि इस दुनिया से खींचकर अब उन्हें कोई वापस नहीं ले जा सकता।

यहीं मेरा परिचय अल्बर्ट और हरजीत अर्नेस्ट की जोड़ी से हुआ। अल्बर्ट अर्नेस्ट चित्रकार हैं; जबकि हरजीत कवि। वर्षों पहले अल्बर्ट जीवन से ऊबकर अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के इरादे से पहाड़ों की ओर आए थे। लेकिन, धर्मशाला पहुंचकर उन्हें दलाई लामा का साथ मिला और यहीं उन्हें हरजीत भी मिलीं। उनकी मौजूदगी किसी खिली फुलवारी-सी प्रतीत होती, शांत और एक अलग से रेखांकित किए जाने योग्य।

पुराना मटौर में मैं लगभग एक साल रहा। राजकुमार राकेश, प्रिया आनंद, अल्बर्ट-हरजीत अर्नेस्ट के अलावा जिन लोगों का वहां संग-साथ मिला, उनमें सहकर्मी नवनीत शर्मा, उनके बड़े भाई गजलकार द्विजेंद्र शर्मा द्विज और राम सिंह तथा कुछ

समय के लिए सिरसा (पंजाब) से नौकरी के लिए दिव्य हिमाचल आए अमरीक थे।

वहां वेतन बहुत कम था और एक दिन जब फिल्मी पेज के संयोजन की जिम्मेदारी मुझे दी जा रही थी; वह मुझे स्वीकार्य नहीं हुई। मैंने वह नौकरी छोड़ दी और पटना लौट आया। लेकिन, वहां करता क्या? उन दिनों बिहार में राबड़ी देवी मुख्यमंत्री थीं। चारों ओर अराजकता फैली थी। हत्याएं और अपहरण रोजमर्रा की बात थी। उस समय तक वहां मेरे दो साथियों की अन्तर्जातीय प्रेम-प्रसंग में गोली मारकर हत्या की जा चुकी थी। रोजी-रोजगार का कोई साधन वहां मिल पाना लगभग असंभव था।

अप्रैल, 2004 में अमरीक के मित्र अर्जुन शर्मा ने मेरे लिए जालंधर से प्रकाशित 'पंजाब केसरी' में नौकरी का जुगाड़ किया। लेकिन, दिव्य हिमाचल की तुलना में अधिक मिलने वाला वेतन मुझे रास नहीं आया। वह अखबार कम, फैक्ट्री अधिक था! तीन महीने बाद ही एक बार फिर मैं नौकरी छोड़कर पटना लौट गया।

नवंबर, 2004 में एक बार फिर पटना से शिमला आया तथा फिर से कुछ समय तक भारतेंदु शिखर में काम किया। उसके बाद अगस्त, 2006 तक शिमला में ही रहा, तथा इस बीच दैनिक भास्कर और अमर उजाला में भी नौकरी की। इस दौरान एक बार फिर अर्चना और दोनों बेटियां कीर्ति व प्रज्ञा शिमला आकर मेरे साथ रहीं। लेकिन, इस बार भी अर्थाभाव के कारण अधिक दिनों तक उन्हें साथ रखना संभव नहीं हो सका।

2006 में शिमला से लौट जाने के बाद पटना से अग्रज मित्र प्रेमकुमार मणि के साथ मिलकर 'जन विकल्प' नाम से एक मासिक पत्रिका का संपादन-प्रकाशन आरंभ किया। वह पत्रिका हम एक साल तक निकाल सके, मैंने उसके बाद प्रभात खबर, पटना ज्वॉइन कर लिया। 2010 में मैं कुछ अन्य व्यक्तिगत कारणों से दिल्ली आ गया और यहीं जवाहरलाल यूनिवर्सिटी से एमफिल करने लग गया। हालांकि, पत्रकारिता में कई वर्ष गुजारने के बाद फिर से विद्यार्थी बन जाना, एक पीड़ाजनक अनुभव था। इसी दौरान मैं फारवर्ड प्रेस पत्रिका से भी जुड़ा। वह सब एक अलग ही कहानी है।

लेकिन, शिमला से वापसी के बाद भी 2001 में शुरू हुई वह कहानी खत्म नहीं हुई। कभी खत्म हो भी नहीं सकती। उसके अधिकांश हिस्से हिमालय की खूबसूरती की तरह इतने विविधवर्णी, दुर्निवार और उतुंग हैं कि उन्हें शब्दों में बयान करना कठिन है।

यह कहानी मेरे हिमाचल-प्रवास तक सीमित है भी नहीं। इसके सिरे हमारे

समय की उन विडंबनाओं से भी जुड़ते हैं, जो बहुसंख्यक आबादी की नैसर्गिक आजादी छीन रही हैं और उन्हें एक अंतहीन दौड़ में शामिल रहने के लिए विवश कर रही हैं।

यह 'शिमला डायरी' उसी के प्रतिकार को दर्ज करने की एक कोशिश है। अगर यह इस संघर्ष-पथ के आगामी यात्रियों को क्षणांश के लिए भी राह दिखा सके, तो इसका प्रकाशन सार्थक हो जाएगा।

◆◆◆

हिमाचल से लौटने के बाद दिल्ली में रहते हुए 2017 और 2018 में मैंने अर्चना और दोनों बेटियों—कीर्ति व प्रज्ञा के साथ हिमाचल प्रदेश के सूदूर किन्नौर, लाहौल स्पीति, चंबा जिलों के दुर्गम इलाकों की यात्रा की। इस किताब में उस दौरान आम लोगों से की गई बातचीत को भी दर्ज किया गया है।

इसे प्रेस में भेजते हुए मेरे हिमाचल-प्रवास के दौरान पत्नी अर्चना सिन्हा द्वारा सही गई अकथनीय पीड़ा के अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश में मिले वे मित्रगण याद आ रहे हैं, जिनके बिना जिंदगी आज भी अधूरी लगती है। ब्रह्मानंद देवरानी, मोहन साहिल, अजेय, निरंजन देव शर्मा, सुरेंद्र शर्मा, पवन ठाकुर, राकेश खंडूरी, राघवेंद्र नारायण मिश्र, मुजीब हुसेन, खेमचंद हरनोट, बविंद्र वशिष्ठ, सुमेश ठाकुर और अग्रज एस.आर. हरनोट, बद्री सिंह भाटिया, अरुण आदित्य ऐसे ही लोगों में से हैं।

इस किताब को प्रकाशित करने लिए प्रेरित करने में फारवर्ड प्रेस में सहकर्मी डॉ. सिद्धार्थ की सबसे बड़ी भूमिका रही, अन्यथा इसे सार्वजनिक करने में मेरा संकोच बना रहता। नवल किशोर कुमार, प्रेम बरेलवी, राजन कुमार व दिनेश कुमार ने इसकी प्रेस कॉपी तैयार करने में अथक परिश्रम किया है। साथ ही तुलसी रमण, रतनचंद निर्झर, विनोद भावुक, लकी नेगी, डेनियल व वीरू राणा ने इसकी त्रुटियों को दूर करने के लिए महत्वपूर्ण सुझाव दिए। इन सबका हार्दिक आभार!

—प्रमोद रंजन

1 जुलाई, 2019

खण्ड 1

डायरी

हम स्वप्नों की तलाश में गए थे
पहाड़ों की ओर*

* राजेश जोशी की कविता-पंक्ति

हम स्वप्नों की तलाश में गए थे पहाड़ों की ओर

25 सितम्बर, 2003, कच्ची घाटी, शिमला

कितनों दिनों से मन था कि एक सुंदर-सी डायरी खरीदूं, जीवन के उतार-चढ़ावों को दर्ज करता चलूं। यह वर्ष समाप्त होने को है, तब जाकर इसे ले पाया हूं।

❑

सांध्य 'भारतेन्दु शिखर' को छोड़कर कांगड़ा से निकलने वाले दैनिक 'दिव्य हिमाचल' में जाने की सोच रहा हूं। उसके समाचार संपादक से बात हुई है। 2 अक्टूबर को 'दिव्य हिमाचल' ज्वाइन करना है। 01 को कांगड़ा जाऊंगा।

5 अक्टूबर, 2003 पुराना मटार, कांगड़ा

'दिव्य हिमाचल' ज्वाइन कर लिया है। बतौर उप-संपादक।

दफ्तर से आने के बाद मस्तिष्क इतना थक जाता है कि डायरी तक लिखने के लिए कुछ सोचने-विचारने की स्थिति नहीं रहती। दिनचर्या कुछ जम जाए, तो जमकर पढ़ूंगा। आज सुबह अल्बेयर कामू के उपन्यास 'अजनबी' के कुछ पन्ने पढ़े। गजब का रोमांच है इसमें। कहीं ठहराव नहीं। अनुवाद राजेन्द्र यादव का है।

8 अक्टूबर, 2003

मन लग गया? मन लग रहा है? यह वाक्य शाश्वत् प्रश्न की तरह मेरे पीछे पड़ा है। यह ऐसा मूर्खतापूर्ण सवाल है, जिसकी कोई अहमियत नहीं। लेकिन जबसे यहां आया हूं, कई लोगों ने मुझसे यह सवाल पूछा है। और तो और, आज तो संपादक महोदय ने भी पूछ डाला। वैसे तो वह संवेदना-संपन्न व्यक्ति हैं। सदाशयता से ही पूछा होगा... पर मुझे ऐसी बातें—कैसे हैं? खाना खा लिया? क्या हाल... आदि बेहद वाहियात लगती हैं।

इस 'मन लगने' के सवाल पर तो इतनी कोफ्त होती है कि असामान्य-सा हो जाता हूं।

12 अक्टूबर, 2003

दो दिन से एक फिल्मी ग़ज़ल के बोल अनायास ही गुनगुना रहा हूं... न जी भर के देखा, न कुछ बात की/बड़ी आरजू थी मुलाकात की...' इसके आगे की पंक्तियां मुझे नहीं आतीं। यह पंक्तियां क्यों गुनगुना रहा हूं, किसके लिए? शायद यूं ही। कहीं से ध्यान में आ गई और बस गुनगुनाए जा रहा हूं या धौलाधार के शिखरों के लिए?

मन तो बहुत था कि धौलाधार के उत्तुंग शिखरों के नजदीक आऊं। कहीं ऐसी जगह कमरा लूं, जहां से इस श्रृंखला का नजारा हो सके। लेकिन इस कमरे से यह संभव नहीं। हां छत से तो दिखता है धौलाधार। पर दस दिन यहां गुजर जाने के बावजूद कहां जी भर देख पाया हूं उसे...। सारी वनस्पतियां त्याग कितना समीप खड़ा है संन्यासी। सर्दियों में यही चोटियां बर्फ से आच्छादित हो जाएंगी—झकझक सफेद। क्या बर्फ से ढका चांदनी रात में दिखेगा धौलाधार! शायद नहीं। कोई बात नहीं, जरा फुरसत पाऊं तो दिन में ही कुछ बातें करूंगा इससे। पर यहां 'फुरसत' मिलेगी भला?... बड़ी आरजू है मुलाकात की!

❑

मैं अब तक जहां-जहां भी रहा हूं, बाइपास सड़क पर ही रहा हूं। पटना में घर बाइपास पर, शिमला में 'कच्ची घाटी' बाइपास, और अब यह कमरा, दफ्तर... सब एक बार फिर बाइपास पर ही है। 'कलिकथा' के अलावा भी बाइपास के कुछ मायने हो सकते हैं? कभी अलका सरावगी मिलीं तो पूछूंगा।

13 अक्टूबर, 2003

जीविका—अर्थात् ऐसा कार्य जिससे 'जीवन' के लिए आर्थिक आधार उपलब्ध हो सके। पर 'जीवन' तो हो! जीविका को दिए गए समय के अतिरिक्त स्वयं का जीवन। 'जीवन मात्र' को कोई स्पष्ट उद्देश्य होना संभव नहीं। पर यह क्या कि जीविका ही जीवन बन जाए!

17 अक्टूबर, 2003

'दिव्य हिमाचल' के पहले पन्ने पर विश्व हिंदू परिषद् के महासचिव प्रवीण तोगड़िया का इंटरव्यू छपा है। यह मुझ जैसे लोगों को दहशत से भर देने वाला बयान है।

तोगड़िया कहता है 'जो लोग मुझे सांप्रदायिक कहते हैं वे एक दिन देशद्रोही

साबित होने वाले हैं।' 'मैं हिन्दू राष्ट्र बनाना चाहता हूं... (जो) समर्थन नहीं देंगे, बाबर के साथ माने जाएंगे।'

इस संदर्भ में 'जनता पर विश्वास' वाली बात भी मिथ्या नजर आती है। धर्म और धर्मांधता के बीच एक बारीक रेखा होती है, अतिक्रमण एक सुगम घटना है। गिरधर राठी का 'अंधविश्वास' पर एक लेख दो-चार दिन पहले अमर उजाला में था। वह कहते हैं : 'ज्योतिष, वास्तु, कर्मकांड आदि सब मिलाकर एक 'पैकेज' है। एक आता है, तो स्वमेव ही सभी साथ आ जाते हैं।' धार्मिकता, या आस्तिकता के 'पैकेज' में कट्टरता, धर्मांधता और सांप्रदायिकता जैसी चीजें भी शामिल होती हैं। कुमार विकल की एक कविता है, मजहब ही सिखाता है/आदमी को त्रिशूल या किरपाल में बदलना/.../मजहब एक भद्र गाली है/जो हर धर्मग्रंथ में/पाकीज़गी के नकाबों में छिपी रहती है/और/कभी आरती/कभी कलमा/कभी अरदास बनकर/आम आदमी की पवित्र प्रतिज्ञाओं में घुसपैठ कर जाती है...'

हमने देखा है कि, बेहद परिवर्तनकामी दर्शन भी 'जनता' को नास्तिक बनाने में असफल हुआ है। बस इतनी आशा रखी जा सकती है कि कालक्रम में विज्ञान इसकी पोल खोल सकेगा। लेकिन, तब तक तो ये मानवता की हत्या कर चुके होंगे। ...इस अंतराल में प्रतिरोध कैसे हो, सवाल तो यह है। सवाल है बगैर धर्म के नैतिकता की तलाश का।

19 अक्टूबर, 2003

डायरी क्यों लिखता हूं? इसलिए कि समय बीतने पर अपने भूत के उतार-चढ़ावों को देख सकूं। यह एक तरह का रचनात्मक कार्य भी है और मनःस्थितियों को दर्ज कर देना एक तरह के विरेचन की राहत देता है। एक तरह से यह तात्कालिक मनोभावों, घटनाओं व परिवेशगत प्रभावों की प्राथमिकी है।

20 अक्टूबर, 2003

परिदृश्य में होते हुए भी स्वयं को उससे बाहर महसूस करता हूं। सागर में द्वीप की तरह शान से खड़ा नहीं, बल्कि हरे-भरे जंगल में पत्र-विहीन गुलमोहर की भांति हताश। अक्सर ऐसा होता है। जैसे एक चौखटे में कैद हूं और चौखटा चलायमान दृश्य में किसी कोने में रख दिया गया है। दृश्य में शामिल होने के लिए खड़ा होता हूं, तो चौखटा भी मेरे साथ-साथ चलने लगता है—मैं दृश्य में विलीन नहीं हो पाता।

यह मेरा अपराधबोध है? कुंठाओं का समुच्चय है? मेरी विगत स्मृतियों से बुना जाल है? पता नहीं क्या... पर मुआ मेरा साथ कहां छोड़ता।

❑

21 अक्टूबर, 2003

आखिर कैसे स्वाभाविक लगता होगा, पैसा और पद के सामने हाथ बांधे, कंधा झुकाए, इस कदर नत रहना? यह भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि जिसे अपने सम्मान की फिक्र नहीं, उसे दूसरे का अपमान करने में भी कोई संकोच नहीं होता... बल्कि गाहे-बगाहे ऐसा 'आनंद' के लिए करते चलते हैं।

25 अक्टूबर, 2003

आज दीवाली है। लोग कहते हैं कि अंधकार पर प्रकाश की विजय का प्रतीक। अमानुषता पर मनुष्यता की विजय का प्रतीक।

...यह दिन और शाम प्रिया आनंदजी के साथ अच्छी गुजरे। 50 की उम्र को छू रहीं प्रिया जो यहीं दिव्य हिमाचल में उप-संपादक हैं। इस किराए के मकान में हमारा कमरा आसपास है। हम आज दिन में मैकडोलगंज से आगे माहसूनाग गए। शाम में मोमबत्तियां जलाईं, साथ खाना खाया... यह जो कुछ बीत रहा है, क्या कहानी नहीं है?

❑

दीवाली के समय ही पटना से गोहर (मंडी, हिमाचल प्रदेश) आया था। उसके अगले साल दीवाली के अगले दिन गोहर छोड़कर शिमला गया था। इस बात को कितने दिन हो गए? एक साल या दो साल? मेरी काल-गणना भी कितनी गडड्मडड् है। शायद एक साल ही हुआ है। नहीं दो साल से ज्यादा ही हो गए। एक साल तो भारतेन्दु में ही रहा।

26 अक्टूबर, 2003

अखबार यहां देर से मिलता है। आजकल अमर उजाला, दैनिक भास्कर, दिव्य हिमाचल तथा द टाइम्स ऑफ इंडिया ले रहा हूं। अमर उजाला हिमाचल आने वाले अन्य हिंदी अखबारों में बेहतर है। अन्य हिंदी अखबारों में तो खबरें कम ही नहीं होतीं, खबरों का चुनाव भी बे-सिर पैर का होता तथा स्थानीय खबरों को बेदर्दी से काटा-पीटा गया होता है। यह डेस्क की जिम्मेदारी है। मूलतः अकुशल

सह-संपादकों का होना इसका कारण है। एक अकुशल डेस्क का तरीका होता है ए 'कट आउट एवरी ट्रवल' (Cut out every trouble) जबकि मंझे हुए डेस्क को 'फाइंड आउट इफ पॉसिबल' (Find out if possible) की नीति पर चलना चाहिए।

भास्कर के शीर्षक प्रयोगात्मक होते हैं।

'द टाइम्स ऑफ इंडिया' से देश तथा बाहर की प्रमुख खबरें मिल जाती हैं। इस दृष्टि से अंग्रेजी के प्रायः सभी अखबार 'राष्ट्रीय' हैं। हिन्दी के बड़े-से-बड़े अखबार में क्षेत्र संदर्भित समाचारों पर ही जोर देते हैं।

27 अक्टूबर, 2003

दरअसल, अखबार में सह-संपादक का काम फितरतन जड़ व्यक्ति का है। खबर पर आंख गड़ाए यह एक ऐसी फौज होती है, जिसके बारे में यह तय हो चुका होता है कि आदेश मानना ही उसकी प्रवृत्ति है। रचनात्मक व्यक्ति के लिए यह निहायत ही गलत जगह है। हां, यह हो सकता है कि यह एक पायदान हो। रचनात्मकता के लिए रास्ता यहां से निकले।

28 अक्टूबर, 2003

'करीं काम जो बेगारी, तब्बो हाथ न बिगारी' बेगारी करते हुए भी अपने कौशल को बचाए रखना चाहिए। क्या आज अखबारी नौकरी करते हुए इस जनसूक्ति पर अमल करना संभव है? शब्दों से जो मेरा लगाव है, या भाषा में प्रयोग की जो लालसा है—क्या यह टिकी रहेगी?

29 अक्टूबर, 2003

कुछ चीज़ें हृदय को कंपा देने वाली घटना की तरह गुजरती हैं। मसलन, अखबार में छपा अश्लील चित्र। टी.वी. की अश्लीलता व्यथित तो करती है, पर कंपकंपी नहीं छुड़ाती। इसका एक कारण तो यह है कि वह क्षणिक होती है, कागज पर छपे चित्र की तरह शाश्वत् नहीं लगती...

30 अक्टूबर, 2003

क्या सचमुच सपने निरर्थक होते हैं? या कोई अर्थ रखता है इनका विज्ञान।

थकी देह, थका शरीर लिए एक निर्जन निपट मरुस्थली पर्वत शृंखला में सदियों से घुटनों में सिर दिए बैठा हूं। सब कुछ हार चुके युधिष्ठिर की हताशा मुझमें उतर आई है। ...कि अचानक जंघाएं तन गईं। सदियों से जमीन देखने वाली नजरें ऊपर उठ रही हैं। रमणी चली आ रही है। चेहरा नहीं दीखता पर बदन शमशेर की ठोस अष्ठधातु की कविताओं-सा। कांसे-सा सौम्य। वह बदन के माध्यम से बात करने आ रही है... अरे यह क्या, मरुस्थल में भी बीज अंखुआ रहे हैं, कुछ तो बड़े हो, गुलाबी फूलों से लद भी गए। फूल... निर्जन में बसंत आ गया, कहां से?

और मैं भी असीम ऊर्जा से भर उठा हूं...। ज्यों चाकू से जंग उतरती गई हो...

02 नवंबर, 2003

साहित्य की 'मुख्यधारा' को ही साहित्य मानने वाले हम लोगों में गीत-ग़ज़ल जैसी विधाओं के प्रति एक प्रकार का पूर्वाग्रह है। हम इन्हें दोयम दर्जे की विधा मानते हैं। इस 'हम' में शामिल होते हुए भी मुझे लगता है कि गेय विधाएं अधिक शक्तिशाली हैं। 'गेय' से मेरा मतलब शब्दों के ऐसे बंधन से है, जिसमें लय, एक प्रकार का संगीत हो। जो कशिश पैदा करे और याद भी आसानी से रखी जा सके। कवि का दायित्व इतना ही नहीं है कि वह अधिकाधिक बात रचना में रख दे—उसका दायित्व यह भी है कि उसकी बात पाठकों के मन में लंबे समय तक रहे। यह दीगर बात है कि गेय विधाओं को विचार के तल पर साधने की क्षमता वाले कवि नगण्य ही हैं।

10 नवंबर, 2003

मेरे साथ त्रासदी यह है कि कहीं भी 'थोड़े' लंबे समय तक टिक नहीं पा रहा हूं। जब तक अपनी दिनचर्या ठीक करने को होता हूं, स्थान या नौकरी बदलने की मजबूरी सामने आ खड़ी होती है। अभी कमरा, कागजात, किताबें व संबंधों को करीने से लगा भी नहीं पाया हूं कि 12-13 दिसंबर को महीने-भर के लिए बी.ए. की परीक्षा देने पटना जाना है। ...मुझे चाहिए कि इन्हीं स्थितियों में सक्रिय बना रहा हूं—कोई यूटोपिया न बनाऊं कि यूं होगा तो यूं होगा। अमर उजाला के स्थानीय संपादक ने चंडीगढ़ वाली मुलाकात में एक अच्छी बात कही थी कि 'आदमी का सक्रिय रहना महत्वपूर्ण है'।

13 नवंबर, 2003

मेरे पढ़ने की गति थोड़ी धीमी है। एक किताब खत्म करने में कई दिन लग जाते हैं। पढ़ना—सोचने के लिए रुकना-लेटना-नींद और फिर उठकर पढ़ना।

कल रात आंध्र प्रदेश के विचारक कांचा आइलैया की किताब समाप्त की। इस किताब 'मैं हिंदू क्यों नहीं हूं'—का अनुवाद दिल्ली विश्वविद्यालय के अध्यापक मुकेश मानस ने किया है। इसे पढ़ते हुए मैंने पहली बार जाना कि ओबीसी जातियां दलित आंदोलन के साथ तारतम्य स्थापित कर सकती हैं। कांचा स्थापित करते हैं कि हिंदू-धर्म सिर्फ ब्राह्मण, क्षत्रिय और बनियों का है। उनके शब्दों में कहें तो यही जातियां हिंदू हैं। शेष दलित-पिछड़ी जातियों का इस धर्म से कोई लेना-देना नहीं। वह रावण, बाली, तात्की, शम्बूक आदि को दलित राजा बताते हैं। कौरवों को दलित विद्रोह का प्रतिनिधि कहते हैं। वह ढेर सारे उदाहरण देते हैं कि कैसे दलित-पिछड़ों के सारे रीति-रिवाज, परंपराएं हिन्दुओं से अलग हैं।

16 नवंबर, 2003

The cat is out of the bag... इस अखबार की भी बिल्लियां अब मेरे सामने हैं।

मन उदास है क्या करूं समझ नहीं पा रहा हूं। लगता तो यही है कि यह पत्रकारिता का सर्वस्वीकृत चेहरा है...

'बढ़के इन्दर सभा का साज़ो-सामां फूंक दूं
इसका गुलशन फूंक दूं, उसका शबिस्तां (शयनगार) फूंक दूं
तख़्ते सुल्तां क्या, मैं सारा कस्ते सुल्तां फूंक दूं
ऐ ग़मे-दिल क्या करूं, ऐ वहशते दिल क्या करूं!'

23 नवंबर, 2003

अभी तक पढ़ी अरुण कमल की कविताएं मुझे फुसफुसाकर कहे गए शोक संदेश की तरह लगती हैं।

उनकी कविताओं को गुजरना ऐसा ही है जैसे कोई आपके एकदम पास आकर कहे-सुनिए! ...फिर थोड़ी देर चुप रहे, और कहे कि आपकी पत्नी और पुत्री को आततायियों ने टुकड़े-टुकड़े कर दिया। बिना विस्मय के इतने ठंडेपन से कही कई ऐसी बात—क्या स्वमेव एक प्रकार की क्रूरता नहीं है!

उत्तेजना पर ऐसा नियंत्रण हिंदी के किसी और कवि के पास है या नहीं—मैं

नहीं जानता। पर अरुण कमल का यही ठंडापन उन्हें बड़ा कवि बना देता है। ऐसा लगता है कि वह विपरीत चले हैं। ताप को बेअसर देख उन्होंने तुषारापात को अपना औजार बनाया है। संभवतः इसी कारण उनकी कविताओं में सच्चाइयां धुएं के धुंधलके में नहीं, बल्कि बर्फ की सिल्ली की तरह साफ, नंगी खड़ी दिखती हैं। उनकी ऐसी ही एक कविता आज सुबह पढ़ी। यह आरा (बिहार) से शुरू हुई पत्रिका 'मित्र' के दूसरे अंक में है।

महाशक्ति

वह चढ़ा था खम्भे के ऊपर जहां से तार
बस हाथ भर दूर था
और रंग रहा था चमकीली चांदी के रंग से
यह आखरी खम्भा था राजमार्ग पर
अब वह उतरेगा और छककर नहाएगा पहले तो
इतना कड़ा घाम पूरा बदन छालों से भरा
हो गये सारे खम्भे हो गए समय पर
कल इसी रास्ते गुजरेगी प्रधान की शाही सवारी
और आज ठीकेदार मजदूरी भी देगा जोड़कर

वह टंगा रहा ऊपर खम्भे पर वैसे ही जैसे कोई
कनकौवा फंसा हो लेकिन कोई फड़फड़ नहीं
'उसको करन्ट मार दिया... दौड़ो'

वह टंगा रहा ऊपर और लोग जुटने लगे
दौड़े मजदूर जो उसके साथ काम कर रहे थे
सड़क पर उस पार
'उसको करेन्ट मार दिया'
दौड़े उसके घर के लोग गांव-जेवार के लोग
रिक्शे वाले, ठेले वाले
दौड़ी उसकी औरत उसके बच्चे दौड़े दौड़ी
उसकी मां

दौड़े पुलिस सिपाही हाकिम छकड़े दौड़े ठहरा सारा शहर दौड़ता
'जल्दी उतारो बेवकूफ को' अधिकारी गरजा
साथी रामआसरे यादव भिड़ आया, 'जुर्माना देना होगा'
अधिकारी तमतम बोला, 'यह भी नहीं जानते बेवकूफ जुर्माना नहीं कम्पेन्शेसन...
उतारो जल्दी
'हम लाश नहीं छोड़ेंगे', बिलटू बिन्द डटकर बोला
'तुम कौन लगते हो उसके?' एक दूसरे अधिकारी ने मुस्की छोड़ी
'वो हमारा भाई था हमारा साथी मजूरा'
और तभी पहले अधिकारी ने बिलटू को थप्पड़ मारा—
'काम करता था पैसा पाता था मर गया मर गया... चलो साफ करो भीड़
जल्दी करो जल्दी, आ रहे होंगे सुप्रीमो'
और पुलिस ने लाठी चलायी पुलिस ने हवा में गोली चलायी पुलिस ने
भीड़ पर गोली चलायी
गुजरी शान से प्रधान की शाही सवारी
न एक बूंद खून था वहां न मातम
चमक रहा था बिजली का खम्भा
नीचे थी रोशनी ऊपर अंधेरा
आर्थिक नीति में यह उदारता का युग था
राजनीति में पिछड़ों दलितों का युग था
संस्कृति में हिंदुत्व का युग था
सन् 2020 में भारत महाशक्ति होगा तै था तै था।

—अरुण कमल

4 दिसंबर, 2003

यशपाल का 'सिंहावलोकन' पढ़ रहा हूं।

सुखदेव के प्रसंग में वह लिखते हैं : 'प्रायः हम सनक की प्रवृति को ही विचारों की स्वतंत्रता समझ बैठते हैं। सुखदेव इस बात का अच्छा-खासा उदाहरण था। उसकी यह प्रवृत्ति फांसी के समय तक प्रकट होती रही। विचार-स्वतंत्रता का अर्थ है अनुभव और जानकारी के आधार पर पूर्वाग्रह छोड़कर तर्क करना और विचारों को विकसित होने देना और उससे कर्तव्य का मार्ग निश्चय करना। विचार और तर्क के आधार के लिए अनुभव और जानकारी आवश्यक है। मनुष्य के अपने अनुभवों का क्षेत्र

सीमित ही रहता है। अध्ययन के साधन से हम दूसरों के अनुभव को अपनाकर अपनी जानकारी बढ़ा सकते हैं। ...भौतिक और सामाजिक वास्तविकताओं के ज्ञान के बिना तर्क और विचार के लिए कोई आधार नहीं हो सकता...'

कितनी विलक्षण बात कह रहे हैं यशपाल! यशपाल को हिमाचल वाले अपने राज्य का बताते हैं। यहां सरकारी स्तर पर इनकी जयंतियां आदि भी मनाई जाती हैं। नदौन में किन्हीं ब्रह्मदत्त शर्मा ने 'यशपाल साहित्य परिषद्' का गठन कर उन पर कुछ काम भी किया है। उनका पैतृक गांव इसी कांगड़ा जिले में था, जो एकदम पंजाब से सटा है और पहले पंजाब रियासत का ही भाग था। यशपाल के मिजाज़ में अक्खड़पन और साफगोई है। वे पंजाबी हैं, शेरे पंजाब!

25 दिसंबर, 2003, कुम्हरार, पटना (घर)

13 दिसंबर को पटना पहुंचा हूं। छुट्टी पर।

नया साल आने को है। दो-तीन अग्रज मित्रों को बधाई संदेश भेजने की सोचता हूं। लेकिन किसी विचारशील सामाजिक के लिए—इस हताशा की ओर संक्रमित होते विचित्र विरोधाभासी वैश्विक काल में बधाई जैसा कृत्य तो अनापेक्षित ही होगा। सोचता हूं, उन्हें लिखूंगा कि *'इस नववर्ष और सुंदर भविष्य के लिए शेष आकांक्षा या एक मित्र का स्मरण संदेश-भर मानें!'*

26 दिसंबर, 2003

जबसे पटना आया हूं बिहार की वर्तमान दुर्दशा पर सोच रहा हूं। यह त्रासद हालात क्यों और कैसे पैदा हुए? एक मिथक की तरह यह प्रचारित है कि बिहारी युवा विलक्षण प्रतिभा के धनी होते हैं। यह बात आत्मश्लाघा या झूठ हो या नहीं; लेकिन सतही आकलन पर आधारित निष्कर्ष अवश्य है। मसलन, प्रतिभा वाली बात बिहारियों के लिए नहीं, बल्कि 'बिहारी युवाओं' के लिए कही जाती है। यानी, यह उनके प्रदर्शन पर आधारित निष्कर्ष है, जो 10-12 वर्ष पहले बिहार से बाहर पढ़ाई या काम के लिए गए। इस प्रकार ये लालू प्रसाद-युग के ही विद्यार्थी हैं। ऐसे समय में जब बिहार में शिक्षा का मूल ढांचा ही रसातल में चला जा रहा हो, बिहार प्रतिभाएं पैदा करने की फैक्ट्री बन जाए—यह विरोधाभास कैसे संभव है? और अगर यह कथित रूप से संभव भी हुआ है, तो इसके जातिगत सामाजिक कारकों पर भी ध्यान दिए जाने की आवश्यकता है। ध्यान देने योग्य यह भी है कि यह सभी 'प्रतिभाएं' 'पढ़ाई' में ही 'तेज' हैं। जैसे प्रशासनिक सेवाओं में, आईआईटी,

एम्स जैसे शिक्षा संस्थानों में और अन्य सरकारी नौकरियों में चयन आदि के आधार पर ये निष्कर्ष निकाले गए हैं। यानी ये वे 'ऑफ बीट' विलक्षण लोग नहीं हैं, जो विद्रूप समय की प्रतिक्रिया में निर्मित होते हैं। ये उस रटनहारी शिक्षा प्रणाली की उपज हैं, जो अपने पैमाने पर सफल घोषित करने के लिए 'छांट' (जांच?) परीक्षाएं आयोजित करती है। कुछ लोग आंकड़े देते हैं कि बिहार सरकारी नौकरियों में कितना आगे है। यह सच भी हो सकता है, लेकिन देखना यह भी होगा कि सरकारी नौकरियों में भी बिहार जनसंख्या के अनुपात में देश व अन्य राज्यों के समक्ष किस पायदान पर है? 62 लाख आबादी वाले हिमाचल और 8 करोड़ आबादी वाले बिहार की तुलना भला सिर्फ संख्या के आधार पर कैसे की जा सकती है।

दिल्ली विश्वविद्यालय और जे.एन.यू. में भारतीय प्रशासनिक सेवा के स्वप्नाकांक्षी 70 प्रतिशत बिहारी ही होते हैं, जो पढ़ते-पढ़ते प्रौढ़ हो जाते हैं। विज्ञान विषयों में रुचि न होने के बावजूद मेडिकल-इंजीनियरिंग की ओर अंधी दौड़ लगाने वाले भी। क्लर्क की नौकरी तक के लिए 12-12 साल तक तप करने वाले भी।

इस हठयोग के बूते यदि हम कुछ प्रतिष्ठित शिक्षण संस्थाओं की प्रवेश परीक्षाओं व सरकारी नौकरियों में सफल होते हैं, तो क्या इसे बिहार भूमि की जन्मजात प्रतिभा माना जा सकता है?

इस झूठे मिथक को पहचानकर बिहार की असली शक्ति को चिह्नित किया जाना चाहिए।

10 जनवरी, 2004, पुराना मटौर, कांगड़ा, (वही कमरा)

5 को पटना से चलकर, एक दिन दिल्ली रुकते हुए यहां 8 को पहुंचा हूं। रात के ढाई बजे हैं। फिर वही बेचैनी। पोर-पोर में दर्द। रात-रात भर नींद को तरसती आंखें।

15 जनवरी, 2004

'सोच' पत्रिका में कुमार अंबुज की कविताएं हैं।

एक अच्छी कविता आपका तनाव ही नहीं दूर करती, आप में उत्साह भी भरती है। हताशा की संवेदना वाली कविता भी इस मायने में आपकी जिजीविषा को बढ़ाती है कि—आपके समान सोच वाले कुछ और लोग भी मौजूद हैं। कुमार अंबुज की ये कविताएं इसी मायने में मेरे लिए महत्वपूर्ण हैं।

सब तुम्हें नहीं कर सकते प्यार

'यह मुमकिन नहीं कि सब तुम्हें करें प्यार
यह जो तुम बार-बार नाक सिकोड़ते हो
और माथे पर जो बल आते हैं
हो सकता है किसी को इस पर आए प्यार
लेकिन इसी बात पर तो कई लोग चले जाएंगे तुमसे दूर
सड़क पार करने की घबराहट खाना खाने में जल्दीबाज़ी
या ज़रा-सी बात पर उदास होने की आदत
कई लोगों को एक साथ तुमसे प्यार करने से रोक ही देगी
फिर किसी को पसंद नहीं आएगी तुम्हारी चाल
किसी को आंख में आंख डालकर बात करना गुजरेगा नागवार
चलते-चलते इमली के पेड़ को देखना
एक बार फिर तुम्हारे ख़िलाफ़ जाएगा
फिर भी यदि तुमसे बहुत-से लोग एक साथ कहें
कि वे सब तुमको करते हैं प्यार तो रुको और सोचो
यह बात जीवन की साधारणता के विरोध मे जा रही है...'

—कुमार अंबुज

16 फरवरी, 2004

दिनचर्चा व्यवस्थित होने लगी है!

एक पहचाना डर भीतर तैरता है। यह तूफान से पहले की शांत लग रही फिजां है। कहीं टिककर कुछ काम कर सकूं, ऐसा पहले तो कभी नहीं हुआ?

29 फरवरी, 2004

सुबह से ही पटना का विनोद भीतर घुमड़ रहा है। मेरा यार विनोद। जिसके माथे में 315 बोर की गोली ने सुराख कर दिया था। इस पार से उस पर तक। गोली ठीक कान के ऊपरी हिस्से में लगी थी...

वह कौन-सी तारीख थी जब विनोद पहली बार मिला था? यादें समय के साथ कितनी धुंधली हो जाती हैं। विनोद कुमार विमल!...संजीव, सूरज, अमित सूर, नटराज, सब्जीबाग का मोना, अभिषेक... और कौन-कौन थे पटना कॉलेज में? बिहार का जिस तरह से अपराधीकरण हुआ है, उसमें यह कहना कठिन

है कि कौन कहां होगा?

इंटरमीडिएट की परीक्षा का सेंटर बीएन कॉलेज में था। सवाल कुछ गलत थे या मुझे कोर्स से बाहर के लगे थे। मैंने विनोद को यह खबर अखबार में देने के लिए साथ चलने के लिए राजी कर लिया। हम दैनिक आज के दफ्तर गए। उसके बाद दैनिक हिंदुस्तान के दफ्तर। वहां अंदर से बाहर आते हुए उसे एनएसयूआई का पटना विश्वविद्यालय अध्यक्ष मिला। 'अखबार' में रुचि लेते देख शायद हम उसे 'काम' के लगे। नाम था उसका शायद मनोह सिंह। जाति विनोद की ही–भूमिहार। वहीं उसने विनोद से पटना कॉलेज का 'नेतृत्व' संभालने की बात कही। बाद में विनोद उससे कई बार बीएन कॉलेज हॉस्टल में मिला। महज एक-डेढ़ सप्ताह बाद हमने अखबारों को प्रेस विज्ञप्ति जारी की। विनोद पटना कॉलेज एनएसयूआई का अध्यक्ष और मैं उपाध्यक्ष। फिर रैलियां, धरने, सैकड़ों की संख्या में मोटरसाइकिल जुलूस...। उन दिनों विचारधारा का कोई अर्थ कहां समझ आता था। यारी और यारों के बीच विलक्षण दिखने की इच्छा ही सब कुछ थी।

...बाद में मैं बी.ए. की पढ़ाई के लिए दिल्ली आ गया। विनोद का काम बढ़ता गया। उससे अंतिम मुलाकात तब हुई जब मैं घर वालों की मर्जी के विरुद्ध अर्चना से विवाह कर एक होटल में टिका था।... और फिर सुराख, लाल फर्श, उसका स्कूटर, बिजली घर में धकेली जाती उसकी लाश... ओह! शायद यही दिन थे। फरवरी-मार्च का ही महीना रहा होगा। वसंत! मुझे याद है!

29 मार्च, 2004 (शाम)

यहां दाना-पानी आज तक का ही था। मैंने दफ्तर के रिसेप्शन पर संपादक के नाम यह पत्र छोड़ दिया है।

सेवा में,

संपादक
दिव्य हिमाचल
पुराना मटौर, कांगड़ा

महोदय,

कतिपय कारणों से मैं स्वयं को आपके संस्थान के योग्य नहीं पा रहा हूं। इसके कारण मेरी वैचारिक अवस्थिति व जीवनगत कुल स्थितियों के समक्ष इतने

स्पष्ट हैं कि आपके द्वारा सौंपे गए नए कार्यभार (एक अश्लील परिशिष्ठ के संयोजन) को न संभाल पाने की क्षमता स्वीकारते हुए मैं क्षण-भर के लिए भी धर्म-संकट में नहीं हूं।

कृपया मेरे इस त्याग-पत्र को तत्काल प्रभाव से स्वीकृत मानें।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पिछले 6-7 माह में आपसे मिला स्नेह व सहयोग आजीवन स्मरण रहेगा।

भवदीय
प्रमोद रंजन

19 अप्रैल, 2004 (देवी तालाब मंदिर की धर्मशाला, जालंधर)

'लिखने के लिए हमेशा नहीं रहते
एक जैसे विषय
न हर बार स्याही से लिखे जाते हैं शब्द
पृष्ठों का बरसों कोरा रह जाना भी
रखता है कोई अर्थ

कई बार
यूं ही रखे-रखे
डायरी के कई पन्ने
खा जाती है दीमक
या सीलन कर देती है काला

फिर भी बंधे रहते हैं
इबारत के बीच
ख़ाली पृष्ठ
जीवन के शोक दिवस की तरह।'

—ठियोग के कवि मोहन साहिल की कविता

20 अप्रैल, 2004, जालंधर

कल पटना से आकर जालंधर में देवी मंदिर की धर्मशाला में टिका हूं। 'पंजाब केसरी' ज्वाइन करना है।

इस बीच कितना कुछ हुआ! दिव्य हिमाचल का फिल्म और मनोरंजन पर केंद्रित अश्लीलतम परिशिष्ट 'दुनिया टुडे' तैयार करने की जिम्मेदारी मिलने पर संपादक महोदय को इस्तीफा सौंपकर पटना लौट गया। पूरे एक महीने का वेतन एक बार फिर गया। हिमाचल को लगभग विदाई दे दी है, सिर्फ सामान वहां पड़ा है।

26 अप्रैल, 2004 (पक्का बाग, जालंधर)

कई दिनों की फजीहत के बाद यह कमरा मिला है। धक्कामुक्की से जूझते हुए, इस दुनिया में अपना एक कोना कितना सुकून देता है। मेरी अनेक व्यक्तिगत इच्छाओं में से एक बड़ी इच्छा, अपने लिए एक कमरा—सिर्फ अपना एक कोना है। जहां लिख सकूं, पढ़ सकूं और रो भी सकूं।

किताब पढ़कर रोना

रोया हूं मैं भी किताब पढ़कर के
पर अब याद नहीं कि कौन-सी
शायद वह कोई वृत्तांत था
पात्र जिसके अनेक
बनते थे चारों तरफ से मंडराते हुए आते थे
पढ़ता जाता था और रोता जाता था मैं...
...लेकिन मैंने जो पढ़ा था
उसे नहीं रोया था
पढ़ने ने मुझे रोने का बल दिया
दुःख मैंने पाया था बाहर किताब के जीवन से
पढ़ता जाता और रोता जाता था मैं
जो पढ़ता हूं उस पर मैं नहीं रोता हूं
बाहर किताब के जीवन से पाता हूं

रोने का कारण मैं
पर किताब रोना संभव बनाती है।

—रघुवीर सहाय

01 मई, 2004

आज मजदूर दिवस है। परिवर्तन की आदिम चाह का क्रांतिकारी जयघोष दिवस। सिद्धांतों के संभव हो सकने की याद दिलाते रहने वाली एक तारीख।

05 मई, 2004

रचनात्मकता के लिए फुरसत अनिवार्य शर्त है। यांत्रिक ढंग से 'काम' हो सकता है 'रचना' नहीं। रचना या रचनात्मकता के लिए जीवन संघर्ष और फुरसत में समानुपातिक समन्वय होना चाहिए। ...यह यूटोपिया है। नहीं?

08 मई, 2004

अखबारों में पाठक के लिए चयन की सुविधा इतनी सीमित है कि यहां सब कुछ बिक सकता है, बस उसे बड़े पैमाने पर उत्पादित करने के लिए विकराल पूंजी चाहिए। राजनीति की पथ-प्रदर्शक यह मशाल, समाज की श्रेष्ठ मेधाओं को स्वयं में समाहित करने की बजाय उनके सहारे जलती है, जो कहीं स्थान न मिलने के कारण इस क्षेत्र में आने को उत्सुक होते हैं। इस रचनात्मक हो सकने वाली विधा-पत्रकारिता-की विडंबना ही यह है कि यह साहित्य, चित्रकला, संगीत, नृत्य जैसी कलाओं की तरह 'व्यक्तिगत' न होकर—बड़ी पूंजी—एक विराट 'समूह' के सहारे ही चल सकती है। 'पूंजी' को आंकड़ा-सिद्ध मुनाफा चाहिए, वह तब तक पाठक को चयन की सुविधा नहीं देना चाहेगी, जब तक उसके धैर्य का संपूर्ण शोषण न कर ले।

4 जून, 2004

उत्तर प्रदेश से प्रूफ रीडर बनने आए उस लड़के ने ठीक ही कहा था : 'पंजाब केसरी' एक 'फैक्ट्री' है। एक कारखाना। ड्यूटी पर आने वाले पत्रकारों की मेटल डिटेक्टर से जांच... ओवर टाइम, नाइट एलाउंस... मालिक की सुरक्षा में पत्रकारों की ओर तनी स्टेनगनें... हर गलती पर वेतन से पैसे काटा जाना। इस दफ्तर में प्रचलित 'ब्लंडर'...'माफीनामा...' 'पेशी' जैसे शब्द खुद बहुत कुछ कहते हैं।

अखबार यहां साबुन, तेल या आलू चिप्स की तरह निर्मित किया जाता है। या खुदा कैसी-कैसी अंधेरी गलियां, खाइयां हैं पत्रकारिता में! यह तो बेहद क्रूर मालिक का कारखाना है!

12 जून, 2004

कुछ तो बात है कि यह अखबार पंजाब केसरी तमाम किस्म की मूर्खताओं, ले-आउट, समाचार संकलन की पिछड़ी प्रणाली, घनघोर अरचनात्मकता के बावजूद टिका है और इतना बिकता है?

इसके दो विरोधाभासी कारक लगते हैं, अश्लीलता और साहसिकता!

हिंदी समाचार पत्रों में इसी पंजाब केसरी को अश्लीलता का प्रणेता माना जाता है। लेकिन, यह 'पिछले जमाने' की साहसिकता भी प्रदर्शित करता है। यानी इस अखबार में किसी समाचार का शीर्षक ऐसा भी हो सकता है कि 'फलां जिले का कोतवाल घूसखोर है' या 'फलां नेता चोर है'। ऐसी खबरें प्रायः इसके वे संवाददाता लिखते हैं, जिन्होंने 30-30 हजार रुपये सिक्योरिटी मनी जमा कर पहचान पत्र हासिल किया होता है। उन्हें बिना ज्यादा हील-हुज्जत किए छाप भी दिया जाता है। यह साहस का काम है और छोटे स्तर का भ्रष्टाचार है। दूसरे कथित उन्नत समाचार संकलन-संपादन की तकनीक अपनाने वाले अखबारों से इसकी तुलना करनी हो तो कहना चाहिए कि 'पंजाब केसरी' निरीह जेबकतरा है, जबकि वे हाईप्रोफाइल घोटालेबाज हैं, जो कथित रूप से 'दोनों पक्षों' को संतुलित रूप छापते हैं। यानी वे कहते हैं कि हम 'लाश' और 'हत्यारे' दोनों के हिमायती हैं, यह हत्यारे का बचाव करने की उच्चस्तरीय चाल होती है।

पंजाब केसरी में चाहे समाचार संकलन की पिछड़ी प्रणाली के कारण यह साहसिकता अनायास ही आती हो, पर यह निम्न-मध्यम वर्ग के लोगों को अपनी अभिव्यक्ति लगती है।

15 जून, 2004

मित्र के लिए

खत लिख, फाड़ता हूं :
साथी, तुमने उसे बिठा दिया है चने की झाड़ पर
जिसने मेरी नौकरी निगल, मुझे शहर निकाला दिया है।

फोन करना चाहता हूं एक को :
तुम यार वहां मजे कर रहे हो
मैं यहां भूखा, रोजी के लिए दर-ब-दर फिर रहा हूं।
तीसरे आत्मीय से कहने-कहने को होता हूं :
भाई, पिछले किए-अनकिए के लिए माफी
मुझे सख़्त जरूरत है तुम्हारे संबल की अभी।
विवेक का अदृश्य हाथ
रोकता है हर बार
कहीं यह हुआ उत्तर, तो :
'मैंने तुम्हारा ठेका तो नहीं लिया मित्र!'

जब आप घिरे होते हैं चारों ओर से
मुश्किलों की घनी झाड़ियों में
तभी चिसकती है झीने रिश्तों की चादर भी।

— प्र. रं.

18 जून, 2004

विदा पंजाब और पंजाब केसरी! बस आज की रात तक ही तुम्हारा साथ है।

ढाबे से खाना खाकर लौटते हुए कमरे के दरवाजे पर मुझे एक 10 पैसे का सिक्का मिला था। मैंने उसे बाहर की ओर उछाल दिया। यह वही सिक्का था, जिससे कभी दो लेमनचूस मिल जाते थे। दो फोफियां मिल जाती थीं। तब 5 पैसे का चौकोर सिक्का भी प्रचलन में था। याद पड़ता है बहुत छुटपन में पांच पैसे का दो चुटचुट्टा मिला करता था।

आज उसी एल्यूमीनियम के टुकड़े की कीमत क्या है? महज 15-17 वर्षों बाद! कल इतिहासकार हरबंस मुखिया का लेख 'समय के कुछ ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य' पढ़ रहा था। उन्होंने 'समय' की विभिन्न परिभाषाओं/परिकल्पनाओं का जिक्र करते हुए कहा है कि 'जीवन या संसार माया इन अर्थों में नहीं है कि उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, वे समय के असीम और अबोध अस्तित्व के संदर्भ में क्षणिक होते हुए भी माया बन जाते हैं। जीवन का प्रत्येक अनुभव समय बीतने के साथ-साथ क्षीण होता जाता है और जितना समय बीतता है, उतना ही अवास्तविक जैसा प्रतीत होने लगता है। यही उसकी माया जैसी प्रकृति है। इसी प्रकार इतिहास

की हर घटना वास्तविक होते हुए भी समय के दीर्घ संदर्भ में माया के गुण अख्तियार कर लेती है।'

सोचता हूं क्या मेरा यह तनाव, यह जानलेवा अनिश्चय का अनुभव भी एक दिन क्षीण हो जाएगा? माया बन जाएगा? और क्या ऐसा होना हमेशा श्रेयकर ही होता है?

6 नवंबर, 2004, कुम्हरार, पटना (घर)

श्रमजीवी एक्सप्रेस से दिल्ली होते हुए शिमला के लिए रवाना हो रहा हूं। 'विपाशा' के संपादक तुलसी रमण के मार्फत 'भारतेन्दु शिखर' के प्रकाशक लोकेश सूद से बात हुई है। क्या एक बार फिर उस सांध्य दैनिक में काम शुरू करना ठीक रहेगा? घड़ी की सूइयों को वापस घुमाने का प्रयास कहीं किसी विडंबना को जन्म न दे।

इसी बीच करीब साढ़े चार महीने यहां पटना में रहा। बिन पानी मछली-सा बेचैन, लेकिन अजगर-सा राम-भरोसे।

20 जनवरी, 2005 (देवभवन, डेजी बैंक, शिमला)

बीत कुछ तो बीत हम पर
जिंदगी या मौत-सा स्पष्ट
हमको अनिश्चय से चीरते क्षण... बीत...'

—कुंवर नारायण

आज मेरी बेरोजगारी का 20वां दिन है। भारतेन्दु शिखर में वही हुआ, जिसकी आशंका थी।

अनिश्चय सबसे बड़ी मानसिक यातना है; एक ऐसी पीड़ा, जिसके होते हुए आप कभी भी चैन की सांस नहीं ले सकते। आर्थिक रूप से दिवालिया हो चुके हों, तो यह पीड़ा और गहरी हो जाती है।

अभी एक ऐसे मकान में रह रहा हूं, जिसका सामान एक तरह से बंधा हुआ है। जाना कहां है—पता नहीं जाना भी है या नहीं—अनिश्चित। टिके रहने पर खाने के लिए पैसे नहीं। जाने के लिए किराया नहीं। मृगतृष्णा की तरह नौकरी की आवश्यकता।

फिर भी, इसी अनिश्चय के बीच काफी कुछ किया है। 8-9 कविताएं लिखीं।

कुछ पहले की ठीक कीं। ड्राफ्टों के सैकड़ों कागज कमरे में बिखरे हैं। दो किताबों की समीक्षा की। 5-6 कविता संग्रह और अमेरिकी उपन्यासकार क्लोरेंस-डे का उपन्यास 'लाइफ विद फादर' पढ़ा। इस नजरिए से इस अनिश्चय-काल को देखता हूं, तो पाता हूं कि इस संकट-काल में जैसे मुझमें ऊर्जा का विस्फोट हो गया हो। वह क्या है, जो मुझसे इतना कुछ करवा रहा है? यह कैसी ऊर्जा है? कहां है इसका उद्‌गम? जब लिख रहा होता हूं न थकान होती है, न मन ऊबता है। यह कैसा विरोधाभास है, अनिश्चय की इस भीषण मानसिक यातना के बावजूद, लिखते हुए तनाव और बेचैनी किस कोख में दुबक जाती है! जाने-समझे और भोगे हुए को व्यक्त करने की इच्छा रचनागत तनाव, बार-बार भड़क उठता है... उधर नौकरी को लेकर बेचैनी बढ़ती है, इधर सृजन की पिपासा!

(शाम)

प्रतीक्षा करना

दुनिया सिमटकर छोटी होती जा रही है, और हम और
हम जैसे जो केंद्र की तरफ बढ़ने से इन्कार करते हैं
अपने आप होते जा रहे बाहर।
यह सब घट रहा है बहुत तेजी से पर नहीं होता महसूस
ठीक वैसे ही जैसे हम पृथ्वी का नाचना जान नहीं पाते, न चांद का घूमना देख पाते हैं
कृष्ण विवर में रहने वाले कभी उसका सिकुड़ना समझ सकते हैं भला?
प्राण! माफ करना मैं और मेरे साथी इस घटनाचक्र को रोक नहीं सकते
बस केन्द्र की ओर बढ़ने से इन्कार कर सकते हैं
हम समय को पढ़ने लिखने गुनने वाले लोग, जिन्हें केंद्र रूपांतरित रूप में स्वीकार करने को अब भी है तैयार
उन लोगों के साथ मिलकर जिन्हें जबरदस्ती बाहर धकेला गया है बनाएंगे एक नई दुनिया जो केन्द्र के मोहपाश से मुक्त, नितांत परिधिहीन होगी
यह निर्माण संभव होगा! संभव होगा प्रिय।
प्रतीक्षा करना, करेंगे हम भी प्यार।

– प्र. रं.

22 जनवरी, 2005

कवि मित्र पंकज चौधरी ने पटना से खत में लिखा है : 'परेशान न हों, यही स्थितियां हमारा निर्माण भी कर रही हैं।'

पर यह 'स्थितियां' हमें किस रूप में निर्मित कर रही हैं? अपनी ही बात सोचता हूं। इन स्थितियों के बीच यदि स्वयं को बह जाने दूं, तो किस रूप में निर्माण होगा मेरा? यह स्थितियां तो अपनी पूरी ताकत से मुझे घुन्ना, चुप्पा, आज्ञाकारी और पालतू बनाने के लिए प्रयासरत हैं! भाई, ऐसी विवशताएं पैदा कर दी जाती हैं कि या तो आप आत्मसमर्पण कर अपनी प्रकृति की हत्या कर दें अन्यथा आपको जीने के हक से ही वंचित कर दिया जाएगा।

पत्रकारिता का पूरा माहौल इस तरह का है कि जीना है तो किसी-न-किसी का पालतू बनना ही पड़ेगा—अब यह आप पर निर्भर करता है कि इस श्रेणीबद्ध पालतू शृंखला में आप स्वयं को कहां—कितना ऊपर या नीचे-फिट कर पाते हैं! यह पेशा बेहद तेज-तर्रार, शातिर पालतुओं के अधिपत्य में है। इतना ही नहीं, वे पलक झपकते इतनी तेजी से पलटी भी मार सकते हैं कि आपके पास हतप्रभ होने के अलावा कोई चारा नहीं रहता। हजार-हजार भुजाओं वाले कई विशाल तंत्र हैं ये।

इन 'स्थितियों' के हवाले स्वयं को 'निर्मित' होने के लिए कैसे छोड़ दूं पंकज भाई?

(शाम)

यहां मारो यहां। सीधे सीने में, पसलियों के बीच।

मरना ही है, मरना ही है, मुझे तो। सीधे दिल के पास उतार दो खंजर। सीधे खोपड़ी में मारो गोली। खाली कर दो नाइन एम.एम. की पिस्टल, जो तुमने अपने काले लबादे में छुपाई हुई है। नहीं, मैं यह नहीं कहता कि तुम अब तक पीछे से वार करते रहे हो। बात तो बस एक झटके में खल्लास करने की है...। बहुत-सी चीजों के बारे में बहुत-से अलग विचार रखने की सजा से, मैं भी कब भागा हूं। अब उतार दो खंजर, जिसे अपनी जेबों में सहला रहे हो, उसकी खुरखुराहट से मेरा दिमाग फटने लगा है। अब बस उड़ा दो भेजा! खतम करो बात।

23 जनवरी, 2005

शाम से अभी तक के घटनाक्रम पर सोचूं या न सोचूं?

चमचागीरी का पर्यायवाची क्या होगा? कोई ऐसा शब्द, जो इस कदर घटिया न लगे। शायद ऐसा कोई शब्द नहीं। हां, तर्कों से इस शब्द के घटियापन को कम किया जा सकता है। कहा जा सकता है कि जिसे चमचागीरी कहा जाता है, वह 'अपना पक्ष' रखना भी तो हो सकता है–किसी वरिष्ठ की 'मदद' करना हो सकता है। आदमी होने के नाते किसी से परिचय, स्नेह बढ़ाना भी तो हो सकता है। और भी बहुत कुछ। मसलन, जिसे आप चमचागीरी कह रहे हैं, वह तो मेरे लिए बॉस के सामने अपनी प्रतिभा प्रकट करने का एक अवसर था। किसी का विश्वास हासिल करना क्या चमचागीरी है? ऐसी सैकड़ों बातें।

...मेरी एक कविता की पंक्ति है 'तर्क तो है वेश्या, जिसे बदलते देर नहीं लगती!' मेरी ही पंक्ति है! सचमुच मेरी ही पंक्ति है न? क्या सचमुच?

क्षण भर के लिए 'स्थितियों' के हवाले छूट जाने का नतीजा देखा कवि भाई? नहीं पंकज भाई, नहीं! मुझे इस रूप में निर्मित नहीं होना है... कतई नहीं।

24 जनवरी, 2005

रात फिर बर्फ पड़ी है। दोपहर तक मुझे इसका पता ही नहीं था। परदे से छनकर धूप आती देखी, तो कई दिनों बाद आज परदा उठाया। निर्वसन झाड़ी सफेद पोशाक पहन गुल-थुल हो गई थी। दरवाजा खोला तो बाहर सूखने के लिए छोड़े गए कपड़े अकड़ गए थे। सीढ़ियों की पतली-सी रेलिंग पर भी झकाझक सफेद ताजी दही-सी बित्ता भर बर्फ थी।

'मित्र देवरानी के पिता की मृत्यु पर' के बिखरे हुए ड्राफ्ट सहेजते हुए ऐसा लगा कि दिल धंसता जा रहा है। धूप को लौटते देख खिड़की का पर्दा गिराने के लिए उठा तो लगा कि... एकदम से फर्श पर बैठ जाना पड़ा। ऐसा लगता है जैसे खुद की खोह में कैद होता जा रहा हूं। जब भी कोई मुझसे नौकरी के बारे में पूछता है, तो जरूर मेरा चेहरा विकृत हो जाता होगा।

लगातार चलते रहने से ब्लोअर की तार जल गई है, अभी हीटर लगाया तो सॉकेट ही फुक गया। रात शायद फिर बर्फ पड़ेगी। बहुत तीखी ठंड है आज।

❑

कल मित्र ब्रहमानंद देवरानी के पिता गुजर गए। मुझे बार-बार लगता रहा कि अधिक ठंडा क्या होता है? बर्फ, मौत या बेरोजगारी? हिमाचल में अभी और ठंड बढ़ने, बर्फीले तूफान की सूचना है। अभाव, मानवाधिकार से वंचित हो टूटने से अधिक भयंकर होता होगा बर्फीला तूफान? दुनिया में अधिकांश आबादी की

पीड़ा सम्मानपूर्ण रोजगार का न होना है।

कथित आर्थिक विकास और आधारभूत संरचनाओं की उन्नति को लेकर क्या आप चाटेंगे—जब घर में दाल न हो? या उस दाल का स्वाद कैसा होगा, गर लाले की हैसियत इतनी है कि वह आपकी क्रय शक्ति को भी अपमानित कर सके?

(रात)

मित्र देवरानी के पिता की मृत्यु पर

क्या कहूं फूटती नहीं कोई बात
शिमला से गढ़वाल का सफ़र
अकड़ जाएगा आंखें बिछाए ठंडा शरीर

कमरे से थैला ले पौड़ी गढ़वाल जाएंगे देवरानी के भाई
निर्जन में राह की रेख बनाते
बर्फ के सीने पर थाप देते वह, मौन, आगे
पीछे मैं स्तब्ध; एक शव की दूरी पर, कांधा झुकाए

यह कैसा कंपकंपाता भिंचा स्वर
उनके पैरों से आती आवाज़
टेर रही बर्फ़ कच्ची :
'राम नाम'
हुंकारा दे रहे मेरे पांव :
'सत्य है'...

छन-छनकर टपक रहा तुहिन मुकुनदानों-सा
हम पर
हमारे बीच के अदृश्य शव पर
संबल छिड़क रहे देवदार?

हर तरफ संताप पसरा है सफ़ेद :

हमारी तमाम तात्कालिक समस्याओं पर तुषारापात करता
— प्र. रं.

25 जनवरी, 2005

दिमाग में कई जुमले कौंध रहे हैं : 'सड़क किनारे पकौड़ी बेचने से लेकर इस देश को चलाने तक कुछ और भी कर सकता हूं, डॉक्टर ने तो कहा नहीं कि पत्रकार ही बनूं।'

❑

मुझे मूर्ख बनाते हुए आप यह समझे कि मैं 'एकदम' मूर्ख हूं, इससे बड़ी मूर्खता क्या हो सकती है?

❑

विवाद फैलाना चाहते हो, तो खरा-खरा सच लिख दो, बस। सच से ज्यादा विवादास्पद कुछ नहीं होता।

❑

पत्रकारिता में सफल होने का एक नुस्खा : चुप्पा बनो। पक्ष-विपक्ष में कुछ भी बोलने से परहेज रखो।

26 जनवरी, 2005

आज गणतंत्र परेड के कारण रिज मैदान की ओर जाने वाले रास्ते बंद हैं। माल पर दोपहर में घूमने निकला हूं। बेतरह चमकीली धूप खिली थी, खास शिमला की सर्दियों वाली धूप। हवा भी खुश थी। हालांकि, मैं उसकी खुशी में शरीक नहीं हो पाया। अपने तनावों से उसे क्यों उदास करता? कमरे में लौट आया।

कैसा हो, गर हर साल तीन महीने बिना बेरोजगारी के तनाव के नौकरी से मुक्ति मिल जाए। शिमला के माल जैसी सड़के के आस-पास कमरा हो (मध्यम आकार का, शौचालय-रसोई के साथ, शीशे वाले चार-पांच कवर्ड भी लगे हों!)

मनपसंद सारी किताबें और जरूरत के सभी संदर्भ-ग्रंथ और शब्दकोश हों। साहित्यिक वैचारिक पत्रिकाएं अखबारों के साथ घर पहुंचे। टी.वी. भी हो, जो सिर्फ चुनिंदा समाचार और अच्छे गीत सुनाए।

ढेर सारी रंग-बिरंगी कलमें तथा चिकना-सुंदर कागज पर्याप्त मात्रा में हो। लेटर बॉक्स नजदीक हो। डाक टिकटें (सुंदर फिटलैटिक वाली) एक साथ खरीद

ली जाएं। मोबाइल फोन हो—लेकिन ऐसा कि जब फोन रिसीव न करना चाहूं, मेरी खातिर छोटा-सा झूठ बोल दे 'इस मार्ग की सभी लाइनें व्यस्त हैं'।

और एक पैसे रखने का जादुई डब्बा हो, जो इन जरूरतों के लिए खर्च करने पर खाली न हो!

27 जनवरी, 2005

छोटे-से कस्बे ठियोग से आए कवि मित्र साहिल भाई और मैं सारी रात जगे रहे। संजय कुंदन, अनूप सेठी और निलय उपाध्याय की ढेर सारी कविताओं के साथ हमने अपनी-अपनी कविताएं भी पढ़ीं। अनूप सेठी की कविता 'आत्मजीत के लिए' तो बार-बार पढ़ी।

साहिल कल यहां आए हैं। बर्फबारी के कारण रास्ते बंद हो गए, सो घर नहीं लौट सके। ऐसे समय में किसी मित्र के पास होना भला लगता है, जिससे आप खुलकर बोल-बतिया सकें। साहिल भी निलय की पीढ़ी के हैं। दोनों का जन्म 1963 का है। कुंदन का जन्म वर्ष क्या है? उनकी उम्र भी तो इसी के आसपास होनी चाहिए? मैं इन सबसे छोटा हूं।

...घनघोर तनावों के बीच कविताओं की यह रात लंबे समय तक याद रहेगी। बाहर बादल गरजते-चमकते रहे। भीतर हम और हमारी कविताएं। वे कभी पानी कभी बर्फ बरसाते रहे। इधर हम व्यक्तिगत तनावों, बेरोजगारी, आदि से कविताओं की ध्वनि-भाव का रिश्ता तलाशते रहे। क्या यह भी 'बर्फ' और 'पानी' का-सा रिश्ता नहीं है? एक ही मूल तत्त्व के दो रूप। मूल में व्यक्तिगत जीवन, समाज-रूपांतरित होकर कविता, रचना। बर्फ की तरह खूबसूरत और प्रायः अनुपयोगी-सी लगती हुई!

खैर, रात बीत चुकी है। पता नहीं, जो बीता वह जीवन का हिस्सा था या किसी लंबी कविता का छोटा-सा स्मरणीय अंश? अब जब, सुबह भी ऊपर उठ रही है, साहिल सो रहे हैं और मैं अपने तनावों के साथ एक बार फिर अकेला हूं—निलय उपाध्याय की पंक्ति कौंध रही है :

'आस्था—
मुझे रात भर पापा कहो
मैं बेटा कहूंगा रात भर
वे आएं... वो भी आएं...
बिलकुल ही पास आ जाएं पहाड़
सवार हो जाएं सीने पर
हम नहीं डरेंगे आज की रात।'

(शाम)

नौकरी नहीं मिलना, मित्रों का बदल जाना, शहर छोड़ने के लिए विवश होना या अयोग्य ही करार दिया जाना—हार नहीं है। हार है खुद को बदल देना। हवा के संग बहने के लिए छोड़ देना। और अभी मैं हारा नहीं हूं।

(रात)

दो कविताएं

(1)

मुश्किलें उफान खाने लगीं पहाड़ी नदी सी
समस्याएं कल्पतरुओं से ऊंची हो गईं
उतरने लगे आसमान से अपमानों के फाहे—
अचानक; बिलकुल अचानक।

मैंने तो बस सीमामुक्ति चाही थी
बुलाता रहा जो अनंत काल से—
महासिंधु का सिरा देख आने की बात कही थी!

धरती ने तो फेरा ही मुंह
षड्यंत्रों के जाल उग आए घनघोर
अचानक मेरे विरुद्ध हो गया
सृष्टि का विराट तंत्र!!

(2)

ऊर्जाओं ठहरो
चेतना को चक्रवात-सा मत झकझोरो
सह नहीं पाऊंगा इतना आवेग

अंतरतम की प्रकाश शक्तियों!
बेचैनी बढ़ती जाती है

मस्तिष्क का ज्वालामुखी फट जाएगा...
भला कैसे लड़ सकता है
कोई जलचर;
सागर से?

एकमात्र संचित निधि अब तुम्हीं।
हौले-हौले कायांतरित हो
ले चलो मुझे नीचे
और नीचे/सागर तल में

बनाऊं सीप-शंख विविधवर्णी
तुम्हारी ऊष्मा से ढालूं प्रवाल
तेज करूं धार सृजन की

जितना सिरज सकूं, सिरजूं :
आकाश, धरती और जल भी

—प्र. रं.

9 फरवरी, 2005

दैनिक भास्कर के स्थानीय संपादक एस. राजेन टोडरिया जी से मिलने उनके दफ्तर जाते हुए एक आवाज, 'यह बिहारी कहां जा रहा है' या ऐसी ही कोई बात, कुछ फुसफुसाहटें। बिहारीपन को लेकर मेरे साथ गुजरा पहला हादसा। अभी तक तो यहां इतने आत्मीय मित्र मिले कि बिहारी या बाहरी क्या, पराए होने तक का अहसास नहीं हुआ।

दिल्ली में बीते कॉलेज के दिनों में भी—कम-से-कम 'सुनाकर' ऐसा कहने की हिम्मत किसी की नहीं थी। शायद यह सुनने का समय तो अब आया है... दूसरे प्रदेश के रोजगार में सेंध लगाने की विवशता का नतीजा। इस हेतु अभिशप्त एक भौगोलिक कौम की मजबूरी।

❑

बिहारी

'अश्वेत की तरह
अछूत की तरह
अंग्रेजी राज में घोषित अपराधी जाति की तरह
बिहारी का संबोधन
चाबुक की तरह
मेरे वजूद को लहूलुहान करता है
देश जबकि नस्लों का अजायबघर बन गया है
श्रेष्ठ नस्लों की निगाह में बिहार एक नरक है
जहां से केवल और केवल
पलायन कर रहे हैं
महानगरों और अमीर प्रांतों में पशुओं की तरह
श्रम कर रहे हैं और बदले में घृणा और घृणा
पा रहे हैं...

—समयांतर जून, 2003 में बिहार के एक कवि दिनकर कुमार की कविता

❑

साप्ताहिक 'ग्राम परिवेश के लिए बात हो गई है। उसके विशेषांकों व साहित्य पृष्ठ का संयोजन करूंगा। प्रयास करूंगा कि यह युवतम पीढ़ी की चिंताओं का मंच बने।

11 फरवरी, 2005

मैं कौन हूं? यह एक शाश्वत प्रश्न है, जिसका उत्तर अनेक मनीषियों ने ढूंढने की कोशिश की है और तरह-तरह से उसे व्याख्यायित किया है। हिमालय ऐसे प्रश्न को खुद से पूछने के लिए सबसे मुफीद जगह है। लेकिन, मैं हिमालय की ओर इस प्रश्न की तलाश में नहीं, बल्कि रोजगार की खोज में भटकता हुआ पहुंच गया हूं। क्या मैं इस प्रश्न को पूछने का अधिकारी हूं? यह प्रश्न तो जीवन के भरे-पूरे होने की मांग करता है।

मैं मगध का रहने वाला, मगही भाषी हूं। पशु चिकित्सक पिता और शिक्षिका माता की एकलौती संतान। मेरे पूर्वज उत्तम कोटि की साग-सब्जियां उगाने में सिद्धहस्त लोग थे। मैं उसी मगध का वासी हूं, जो इस प्रश्न का सर्वोत्तम उत्तर

ढूंढने वाले बुद्ध की कर्मस्थली रहा है।

वैशाली, कोशल और कौशांबी से उठे उनके संदेश दुनिया-भर में फैले। यहां ऊपरी हिमालय के दुर्गमतम स्थलों में भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों की बस्तियां हैं।

लेकिन, आज के मगध में शायद ही कोई हो, जो ज्ञान, विज्ञान के किसी भी क्षेत्र में गूढ़ प्रश्नों की तलाश में जुटा हो। आज वहां के निवासियों की दौड़ येन-केन-प्रकारेण रोजी-रोटी की तलाश तक सीमित है।

आज मेरा परिचय यह है कि मैं दुनिया के सबसे बदहाल रहबासों में से एक, बिहार प्रदेश का निवासी हूं। यह एक ऐसा काला रंग है, जिस पर किसी दूसरे परिचय का रंग चढ़ पाना बहुत कठिन है।

26 फरवरी, 2005

एक असंभव इच्छा : उम्र का अतिक्रमण करना चाहता हूं। मुझे उम्र की सामंती अवधारणा से अलग कर देखा जाए!

28 फरवरी, 2005

1999 में एक पत्रिका शुरू करने के बचकाने फैसले के समय कंप्यूटर से मेरा पहला वास्ता हुआ था। तबसे लेकर अब तक मेरी इस धारणा में फर्क नहीं पड़ा कि यह भरोसे के काबिल मशीन नहीं है। यह खुद को आदमी से ऊपर समझता है और काम करने, न करने—आपका समय बचाने, खराब करने का फैसला भी खुद ही करता है हरामजादा!

29 फरवरी, 2005

एक रचनाकार के लिए व्यक्तिगत क्या हो सकता है! उसे तो सब बताना ही है। जो कुछ वह नहीं बता पाता, तो उसका अर्थ यह नहीं कि वह छुपाना चाहता है। एक रचनाकार के साथ ऐसा होने का अर्थ है कि वह अभिव्यक्ति के लिए उचित शिल्प की तलाश में असफल हुआ है।

01 मार्च, 2005

पूरे दिन रिमझिम होती रही। यहां बारहो महीने छातों की जरूरत रहती है।

मई-जून-जुलाई में जरा-सी गर्मी होने पर हर दूसरे दिन बारिश हो जाती है। उन महीनों में भी स्वेटर का साथ पूरी तरह नहीं छूटता। बारिश होते ही ठंड हो जाती है और अगर शाम में बाहर हों तो कंपकंपी छूटने लगती है। कंबल का साथ तो खैर कभी नहीं छूटता।

आज मुजीब के साथ स्कैंडल प्वाइंट तक गया था। मुजीब चित्रकार हैं। स्कैंडल से लौटते हुए चर्च के पैरों तले तेज हवा थी। वहां तीन दिशाओं से आने वाली हवाएं उसके पैर और धड़ को चूमती हैं। एक लहर धौलाधार शृंखला की ओर से, दूसरी जाखू की चोटियों से नीचे उतरती हुई और तीसरी लोअर बाजार से नीचे की घाटियों से ऊपर लहराती हुई। आज हाथ में छतरी नहीं थी, इसलिए हवाओं के इस खेल का अहसास ज्यादा हुआ।

6 मार्च, 2005

जो व्यक्ति आपको सर उठाकर जीने की ताकत देता है, वही यह भी चाहता है कि आप उसके व उसके चहेतों के सामने गिड़गिड़ाते रहें। पारिवारिक मामले में यह वही बहुश्रुत 'सामंतवाद' है। आपको ताकत देकर वह दरअसल अपने सामंती-अहं के एक पुर्जे को ही मजबूत कर रहा होता है। परिवार के भीतर जनतंत्र की अवधारणा इस देश में अंकुरित ही नहीं हुई है। व्यक्तिगत पूंजी से संबंधित कानून ने भी परिवार के भीतर सामंती प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया है। बड़े-संयुक्त परिवारों में तो, फिर भी, भूलवश ही सही-निर्भरों को कुछ स्वतंत्र जगह मिल जाया करती है। यदि छोटे परिवारों में जनतांत्रिकता न हो तो वहां व्यक्तित्वों के विखंडन को रोका नहीं जा सकता। ❑

कल सुबह पटना के लिए रवाना होऊंगा।

6 अप्रैल, 2005

पटना से लौट आया हूं।

कहीं पढ़ा था; किन्हीं लेखक दंपति के पत्रों का संदर्भ था। उसमें पत्नी ने लिखा था 'बिटिया को बड़ा होते देखना एक अनुभव है और दूर रहकर तुम इससे वंचित हो रहे हो।'

सचमुच, यह एक अतुलनीय अनुभव है। छोटी लगभग 10 महीने की हो गई है। गुड़कती है, कुछ पकड़कर खड़ा होना चाहती है। कभी-कभार डग निकालती है, तो लड़खड़ाकर धम्म से बैठ जाती है। कल मैंने उसे पंजों पर बिठाकर घुघुआमन्ना

करवाते हुए हवा में उछाला था। अभी शाम, सोया था तो—अर्चना बता रही थी कि वह रजाई का कोना उठाकर झांक रही थी। जगा तो खूब उछल-उछलकर उसने खुद को उछालने की इच्छा व्यक्त की। दोनों हाथ हवा में उठाकर जांघों और कमर पर जोर दे वह खुद को हवा में उछाले जाने का अभिनय करती रही। जब उसे गोद में ले उछाला तो खूब हंसी। इसका नाम हमने 'प्रज्ञा' तय किया था। लेकिन कीर्ति 'आस्था' पर अड़ी हुई है। वह अपना नाम भी 'कीर्ति' की जगह 'स्मृति' रखना चाहती है। अभी महज 5 साल की है। समझदार तो है, लेकिन फैशनपरस्त उतनी ही। दादाजी से जिद कर पटना में कान छिदवा लिए थे। कहीं रगड़ लग जाती है, तो दर्द से चीख उठती है। लेकिन कितना भी चिढ़ाने पर कनवाली पहनने से नहीं मुकरती। अर्चना से कह रहा था कि उसे तो समझ नहीं है, कान छिदवाकर तुम लोगों ने उस पर एक गैर-जरूरी परंपरा आरोपित कर दी है। छोटी की रुचि अभी से किताबों में है, वह किताब देखते ही दौड़ पड़ती है।

7 अप्रैल, 2005

प्रेमकुमार मणि की किताब 'खूनी खेल के इर्द-गिर्द' समाप्त की। यह उनके समय-समय पर लिखे लेखों का संग्रह है। राजनीति और जाति पर मेरे विचारों को इस किताब ने मथा है। अपनी कई अवधारणाओं पर पुनर्विचार के लिए विवश हुआ हूं। मैंने उनसे 'ग्राम परिवेश' के साक्षात्कार आधारित कॉलम 'एकल संवाद' के लिए जो प्रश्न पूछा है उसके उत्तर में उन्होंने प्रकारांतर से लिखा है कि मैंने उनका लिखा पढ़ा ही नहीं है। उस सवाल के संदर्भ में इस आरोप को स्वीकार करने में मुझे अब संकोच नहीं रहा, क्योंकि उस सवाल को पूछने समय तक वस्तुतः मैंने उनका लिखा छिटपुट ही पढ़ा था। यह किताब पढ़ने के बाद उन्हें समग्रता में पढ़ने की इच्छा बलवती हो उठी। एक व्यक्ति के रूप में उन्हें ज्यादा नहीं जानता, लेकिन इतना कह सकता हूं कि वह एक महत्वपूर्ण चिंतक हैं।

9 अप्रैल, 2005

'उस रात मौत गीत गाती थी
जिंदगी झूम-झूम जाती थी'

प्रेमकुमार मणि ने अपनी डायरी में फिराक का यह शेर उद्धृत किया है। 'ग्राम

परिवेश' के पिछले अंक में उनका साक्षात्कार और डायरी के पन्ने छपे हैं। उस पर कटु-मृदु प्रतिक्रियाओं के बीच सूचना मिली है कि उनके पेट में अल्सर फट गया है, बहुत गंभीर हालत में उन्हें गाजियाबाद स्थित यशोदा हॉस्पिटल में दाखिल किया गया है। मणिजी अपनी बिटिया को मेडिकल की प्रवेश प्रतियोगिता परीक्षा दिलवाकर दिल्ली से पटना लौट रहे थे, तभी यह हादसा हुआ। डॉक्टरों के अनुसार अभी उन्हें चार-पांच दिन आई.सी.यू. में रहना पड़ेगा। इस सूचना ने मुझे लगभग सदमे की हालत में पहुंचा दिया है।

27 अप्रैल, 2005

प्रज्ञा आज कुछ कदम चली। पहले उसकी मां ने बताया, फिर मैंने भी देखा। ठुमक-ठुमककर यही कोई चार-पांच कदम चली होगी। ... यही तो पुनर्सृजन का आधार 'जीवन' है।

वह चल रही थी, तो कितनी प्यारी लग रही थी। छापामार सैनिक की भांति एकदम सतर्क...। खुश तो वह अपनी मां के पास पहुंचकर हुई। जब उसने उसे गोद में लिया, तो कितना खिलखिलाकर हंसी! मुन्नी ने मुझे धमकाया कि अब बस 8-10 दिनों में यह चलने लगेगी, उसके बाद तुम्हारी किताबों की खैर नहीं। पता नहीं क्यों मुझे भी लगता है कि मेरी किताबों की थाती यह संभालेगी। वैसे ऐसे पूर्वानुमानों का कोई सार नहीं होना चाहिए–हर पिता की तरह मैं भी बस यूं ही यह सब सोचे जा रहा हूं।

1 मई, 2005 (मजदूर-दिवस)

कहीं घास पर बैठे हों तो हवा की गीत पर संगत करते छोटे-छोटे फूलों पर गौर करें। मौसम वसंत का हो तब तो हरी घास से झांकते तरह-तरह के फूलों को तलाशना कतई कठिन नहीं। ग्रीष्म ऋतु में भी छोटे-छोटे सफेद फूल दिख जाएंगे। वे फूल उमंग में होते हैं। पूरी तरह आह्लादित। वे इतने छोटे-छोटे होते हैं कि कोई उन्हें देखता तक नहीं, लॉन में खिले गुलाब, डहेलिया, उड़हुल के सामने इनकी क्या हस्ती! फिर वे इतनी उमंग में कैसे रहते हैं, क्या है उनकी ऊर्जा का श्रोत?

इनकी उमंग का श्रोत है–जड़ों से जुड़े होना। जड़ों से कटकर न प्रकृति का सौंदर्य रहता हे, न ही विचार का।

02 मई, 2005

लाहौल-स्पीति की बर्फीली वादियों से मित्र अजेय आए हैं। होटल बुडलैंड में उन्होंने कविताएं सुनाईं। उनके पास अछूता अनुभव संसार है। लेकिन, क्या विज्ञान की इन सदियों में कोई ईश्वर जैसे पिछड़े विचार के साथ रह 'कवि' बन सकता है? ईश्वर के प्रति श्रद्धा को आसंग रखकर कही कई बातों में न नयापन हो सकता है, न ही उस कथित नएपन की कोई प्रासंगिकता होगी। अजेय के पास कुछ अद्‌भुत कविताएं हैं। उनके कवित्व से हिंदी-संसार को बहुत कुछ अनूठा प्राप्त होगा। लेकिन उन्हें ईश्वर के पिछड़ेपन से उबरना होगा।

8 मई, 2005

आज रविवार था। एक साबुत रविवार। गोहर के निर्जन से सैन्नी अशेष आए हैं।

अशेष शिमला आकर घबराए हुए-से हैं। क्या यह असहजता एक नितांत सहज मन की परेशानी है? एक वनवासी का शहर से भय है? वह अजीब तरह से विचलित हैं। एकाधिक बार उन्होंने कहा कि 'मैं इस दुनिया का प्राणी नहीं हूं'। वे किस दुनिया के वासी हैं? वह पिछड़ी जाति (सैन्नी) के परिवार में पैदा हुए हैं, लेकिन ब्राह्मण होना चाहते हैं। इसके लिए वह रहस्यवाद का सहारा लेते हैं और कभी-कभार शुद्धतावादी होने का भी पूरी चेतनता में प्रयास करते हैं।

उनकी अंतरिक्ष में झूलती दुनिया से मेरा कोई भी संवाद संभव नहीं। हालांकि उनसे ज्यादा प्यारे, फक्कड़ और बिंदास साथी का सान्निध्य शायद मैं आजीवन न पाऊं।

27 मई, 2005

बेरोजगारी के दिन खत्म नहीं हो रहे। दैनिक भास्कर और अमर उजाला दोनों से नौकरी का आश्वासन है। लेकिन कुछ भी निश्चित नहीं।

अब तो पत्रकारिता से ज्यादा मेरे पास 'बेरोजगारिता' का अनुभव है। काश, कोई नौकरी इस परिचय से भी मिलती!

(शाम)

मुश्किल वक्त में बुनी भी जाती है रिश्तों की चादर

अभी-अभी आया
अजेय का फोन
जून की पटनिया दुपहरी में

लाहुल की बयार :
हुआ कुछ नौकरी का जुगाड़?

लौट मत जाना यार
तुम्हारी आंच से कुछ तो पिघलेगा हिम
कुछ तो नरम पड़ेगा तुषार

बाद में पढ़ी जाती रहेंगी कविताएं
लिखने को भी वक्त मिलेगा काफी
जरा हाथ-पैर हिलाओ, करो नौकरी का जुगाड़
चंडीगढ़ वाले को बोलो
दूसरे अखबारों को भी टटोलो

फिर करूंगा फोन।

(पिछले दिनों/ कई द्वारों पर दी है दस्तक
खड़का चुका कई सांकलें भी
कुछ नहीं है अजेय भाई! मेरे करने को
बेरोजगारी का शेर
सामने खड़ा है
करना होगा जो कुछ, अब वही करेगा!
अगले फोन से भी आपके
मेरे निठल्लेपन पर ज्यादा फर्क हीं पड़ेगा।
नौकरी तो मिलती रहेगी
ऐसी अ-जेय कविताएं फिर मिलेंगी भला!!)

पुनश्चः

हैरान हूं अजेय, बिना मिले
बिना एक-दूसरे का चेहरा जाने
यह स्नेह, बिलकुल अनूठा अनुभव!

मुश्किलों से घिरे वक़्त में
रिश्तों की चादर फटती ही नहीं, बुनी भी जाती है, वह भी इतनी मजबूत!!

– प्र. रं.

1 जुलाई, 2005

कोई ऐसे भी अपनी बात कहता है! लगता जैसे सिर झन्न गया हो, शरीर कांप उठा। विष्णु खरे का कविता संग्रह 'सबकी आवाज के परदे में' पढ़ रहा हूं। इसकी एक कविता है 'खुशी' :

खुशी

बढ़ता हुआ छोटा लड़का
हर दो महीने बाद फाड़ लाता है
हर छह महीने में और ज़्यादा महंगे होते हुए जूते
इसलिए कैनवास का वाजिब जोड़ा पहनाकर ही
उसे भेजा जाता है वैस्ट एंड या महारानी बाग में रहने वाले
उसके दोस्तों के बर्थ-डे पर

अबकी बार ऐसे ही कुछ जिक्र किया लड़के ने
नए ढंग के जूतों का
गया बाप सौ रुपये जेब में डालकर मुहल्ले की दुकान पर वहां उस तरह के नहीं मिले
दूर के बड़े शो-रूम में ऊपर के डिब्बे उतारकर
सेल्समैन ने दिखलाए मार्निंग स्टार और काउब्वॉय
जिन्हें पहचानकर खुश हुआ लड़का
दाम था 377 रुपया और 447 रुपया
बाप की तरफ़ देखकर लड़के ने कहा
चलो अपन तो जब अपनी दुकान पर आएंगे तब लेंगे

बाहर निकले तो एक छोटा पिल्ला पूंछ हिलाता आया
बेटे ने कहा पापा देखो कितना अच्छा जूता
फिर हंसा अपनी भूल पर कि कुत्ते की जगह क्या कह गया

कोई और मौका होता तो बाप भी हंसता
फिलहाल उसकी खुशी शो-रूम में ऊपर
जूतों के दो डिब्बों में से किसी में बंद थी

—विष्णु खरे

3 जुलाई, 2005

सरस सामाजिक जीवन में मुझ जैसी मनःस्थिति एक बड़ी बाधा है। कब मस्तिष्क एक प्रकार का 'वैक्यूम' रच देगा, कब उदास दिखने लगूंगा; अनुमान लगाना असंभव है। वैसे समस्या यह भी है कि यदि आपने सामने वाले को देखकर हर पांच-दस मिनट पर दांत नहीं निपोरे, कुछ बकवास नहीं करते रहे तो आपको परेशान, उदास, दुःखी करार दिया जाता है।

❑

28 मई को दैनिक भास्कर में संवाददाता पद पर नियुक्ति हो गई है। इतनी लंबी यातना के बाद मिली इस नौकरी को अब नहीं खोना चाहूंगा। पता नहीं इस बीच की हताशाओं ने कितना सिखाया, कितना कुछ बदल डाला होगा।

14 जुलाई, 2005

यह प्रबंधन का युग है। मैनेजरों का स्वर्णकाल। एक मित्र बता रहे थे कि अमर उजाला के बड़े मैनेजर-संपादक ने शिमला ब्यूरो में अपने पत्रकारों की बैठक को संबोधित करते हुए कहा था कि 'पांच हजार रुपये से कम मासिक आमदनी वालों से संबंधित खबरें नहीं छपनी चाहिए।' क्यों? क्योंकि न वे अच्छे पाठक हैं, न ही अच्छे उपभोक्ता।

इन मैनेजरों ने हिंदी मीडिया को भेड़िया-धसान दौड़ में तब्दील कर दिया है। खबरों के लिए ऐसी मारामारी कि जैसे दुनिया खबरविहीन हो गई हो। हिन्दी अखबारों के मैनेजरों का खयाल है कि यदि उनके पास अंग्रेजी की तरह का 'क्रीम' पाठक वर्ग होगा, तो उन्हें विज्ञापन ज्यादा मिलेंगे। लेकिन क्या यह धारणा इस व्यावसायिक हित को भी साधने में समर्थ है? साफतौर पर तोतारटंत किस्म का मंदबुद्धि खयाल है। मनुष्य जाति कभी इतना संवेदनाविहीन नहीं हो सकती। लोग सिर्फ अपने हितों की रक्षा के लिए ही सूचनाएं नहीं चाहते, वे उन चीजों को अधिक पसंद करते हैं, जिनसे उनकी संवेदनशीलता का विस्तार होता है। पढ़ने से उच्च वर्ग के अहम् को एक किस्म की तुष्टि मिलती है, लेकिन तब भी वह इन बातों से उद्वेलित तो है ही। ...और आप उच्च मध्यवर्ग की तिल

में से कितना तेल निकाल लेंगे? कितना रस देगा एक ही नींबू?

17 जुलाई, 2005

कई बातें ऐसी हैं, जिन्हें सिर्फ दर्ज कर देना ही पत्रकारिता की चारण प्रवृत्ति को स्पष्ट कर दे सकता है :

पांच-छः दिन पहले कर्मचारी नेता गोपालदास वर्मा की प्रेस कॉन्फ्रेंस में गया था। वहां सभी छोटे-बड़े समाचार पत्रों के संवाददाता थे। अमर उजाला, जागरण, अजीत समाचार, हिन्दुस्तान टाइम्स, पंजाब केसरी, दैनिक ट्रिब्यून, भारतेन्दु शिखर आदि के व दैनिक भास्कर से मैं। लेकिन उस प्रेस कॉन्फ्रेंस की खबर किसी अखबार में नहीं छपी। सिर्फ यहां बहुत कम बिकने वाले दैनिक ट्रिब्यून और भारतेन्दु शिखर ने उसे छापा।

❑

गोपालदास वर्मा को राज्य सरकार ने नौकरी से बर्खास्त कर दिया है। शायद वह अग्निशमन विभाग में थे। अब वह अधिकृत 'कर्मचारी नेता' नहीं कहला सकते। (उनके सार्वजनिक जीवन के बारे में मेरी जानकारी सीमित है) प्रेस कॉन्फ्रेंस में उन्होंने हिमाचल सरकार के मुख्य संसदीय सचिव मुकेश अग्निहोत्री के खिलाफ भ्रष्टाचार के कई गंभीर आरोप जड़े थे। मुकेश पहले जनसत्ता में पत्रकार थे। पत्रकारिता के माध्यम से कांग्रेस के लिए की गई सेवाओं के कारण वह राजनीति में आए और 'राजा साहब' (मुख्यमंत्री वीरभद्र सिंह) के खास माने जाते हैं। पिछले दिनों दलितों के मंदिर तोड़े जाने की घटना में भी उनकी सामंती कारगुजारियां छन-छनकर सामने आई थीं। उस दौरान भी यह हुआ था कि मंदिर विध्वंस के विरोध में संतोषगढ़ में दलितों की एक बड़ी रैली की खबर को किसी अखबार ने नहीं छापा था।

❑

कॉन्फ्रेंस के बाद दफ्तर लौटने पर स्थानीय संपादक महोदय ने कहा कि गोपालदास को 'इंपॉर्टेंस' देने की कोई जरूरत नहीं। ज्यादा-ज्यादा सिंगल कॉलम।

दूसरी सुबह वह 'सिंगल कॉलम' भी हमारे अखबार में भी नहीं छपा था। सांध्य भारतेन्दु और ट्रिब्यून के अलावा वह खबर कहीं नहीं थी।

(रात 1.30 बजे)

ग्राम परिवेश के अंतिम 'साहित्य विमर्श' अंकों की तैयारी कर रहा हूं। पिछले अंक पर बहुत सारे पत्र आए हैं—गुरदयाल सिंह, असगर वजाहत, चित्रा मुद्गल, कमलेश्वर आदि के...

दूसरी ओर मेरे एक कवि-मित्र का दबाव है कि इन 'साहित्य विमर्श' परिशिष्टों को निकालना बंद कर दूं। यह दैनिक भास्कर में आगे बढ़ने का प्रलोभन भी है, और एक प्रकार की धमकी भी। इन दिनों मैं दैनिक भास्कर में नौकरी कर रहा हूं, साथ ही ग्राम-परिवेश के 'साहित्य-विमर्श' पृष्ठ भी निकाल रहा हूं।

कवि-मित्र दैनिक भास्कर में महत्वपूर्ण पद पर हैं। भास्कर के मालिकों से उनके संबंध हिमाचल प्रदेश में बहु-प्रचारित हैं। ...कितनी मुश्किल से यह नौकरी मिली है। इसे खो सकने की हिम्मत जुटाने की स्थिति में अब नहीं हूं।

21 जुलाई, 2005

बदन टूट रहा है। रात से ही बुखार है। दफ्तर तो जाना ही पड़ेगा। इस 'भूमंडलीकृत' दुनिया में कर्मचारियों के लिए 'छुट्टी' एक विलासिता है। बीमार होना जघन्य अपराध प्रमाणित कर दिया गया है।

एंटीवायटिक लेनी पड़ेगी, पैरासिटामॉल के साथ। पैसे कहां से लाऊं?

परेशानियां अब मुझे बेचैन नहीं करतीं। उदास कर देती हैं। ऐसे में ऐसे मित्रों के साथ होने का मन होता है, जिनसे खुलकर बात की जा सके।

23 जुलाई, 2005

आत्मालाप

'कुछ खाया?'

हां, खिचड़ी

'तेल तो था नहीं, कैसे बनाई और यह
खट्टा डकार?'

सरसों तपा तेल बनाया
उसमें डाला मेथी, जीरा
और बचा हुआ धनिया
सूखी मिर्च से छौंक लगाया
प्याज कल के लिए बचाया
लहसुन से ही काम चलाया
टीन पलट डाला चावल

पाव भर दाल लाया था कल
अंत में सबसे
हल्दी नमक मिलाया
कूकर बंद करते आई याद,
सोयाबीन की बरी
पड़ी थी–उसको भी पीले पानी में नहलाया
गैस ने भी साथ निभाया
मटमैले डिब्बे में मिल गया नींबू-अचार
तब जाकर रूखा-सूखा पाया!
यह सब करते बज गए चार।

'सरसों, मिर्च, जीरा, मेथी
लहसुन, धनिया, हल्दी, नमक
दाल, चावल और अचार
बरी सोयाबीन की!
दस से अधिक चीजें खाईं
लाजबाब और जायकेदार
तब भी बताते रूखा-सूखा

कैसे कवि हो? हद है यार!!
–प्र. रं.

7 अगस्त, 2005

क्षेत्रीय पत्रकारिता में लिप्त पत्रकारों को शहरों का प्रभावशाली मध्य-वर्ग लरछुत किस्म का प्राणी मानता है। पत्रकारों की हालत उस सेल्समैन जैसी है, जो घर-घर जाकर कॉलबेल बजाता है और अपनी फर्जी कंपनी का हवाला देता है।

आज हैंडलूम प्रदर्शनी में गया था। इंदिरा गांधी परिसर में इसे भारत सरकार ने नार्थ-ईस्ट हैंडलूम उपक्रम ने लगाया है। आयोजक संस्था के एमडी ने कहा 'कल खबर की कटिंग लेकर आना, गिफ्ट दूंगा'। उसने मेरे इन्कार करने के बावजूद दो-तीन बार यह बात कही।

21 अगस्त, 2005

'उग रहा है दरो-दीवार पर सब्जा ग़ालिब/हम हैं बियाबान में घर में बहार आई है'। बिहार में चुनाव घोषित हो गए हैं। राष्ट्रपति-शासन के 10 माह बाद अब चुनाव होंगे। 16 अक्टूबर से 19 नवंबर के बीच चार चरणों में। वहां हालात बहुत खराब हैं। सोचता हूं यदि पत्रकारिता में हूं तो मुझे वहां होना चाहिए था।

लेकिन पत्रकारिता में रहते हुए बिहार में होकर भी क्या कर लेता? कुछ करने जैसे संतोष के लिए पत्रकारिता में चोर रास्ते तलाशे जा सकते हैं; पर वह, 'दिल के ख़ुश रखने को ग़ालिब यह ख़याल अच्छा है' जैसा ही होता!

(शाम)

शब्दों की बाजीगरी के बारे में सुना था। अब देखा—विचार भी एक करतब है। मदारी के हाथ की डुगडुगी। उनके हाथ खतरनाक हथियार हैं—समय और समाज की समझ। शब्द और विचार के मेल से उन्होंने ब्रह्मास्त्र तैयार किया है, जिसे हमारी हत्या के लिए बार-बार इस्तेमाल किया जाता है...

22 सितम्बर, 2005

कितना खौफनाक है यह सब!

रात नौकरी के लिए एक सहकर्मी के साथ अमर उजाला के ब्यूरो प्रमुख से मिला। उसने साफगोई की :

- ज्यादा पैसों की उम्मीद न करें। आप लोगों को सिटी रिपोर्टिंग के लिए रखा जाना है। जब 'कूड़े' पर ही खबर लिखनी है तो 'भाषा' का क्या काम? अच्छी भाषा वाला क्या कूड़े को 'रसगुल्ला' लिखेगा?
- आप लोग कॉन्ट्रेक्ट पर रहेंगे। मैं भी कॉन्ट्रेक्ट पर हूं। बिड़ला की गौशाला 'हिन्दुस्तान' ने भी अब कॉन्ट्रेक्ट सिस्टम कर दिया है।
- अब हर जगह एक-दो ही सीनियर लोग रखे जाते हैं। बाकी लोग कम पैसे पर ही रखे जाएंगे। उन्होंने शिमला ब्यूरो में 6 से 12 हजार रुपये के वेतन पाने वाले कुछ लोगों के नाम गिनाए; जिन्हें पिछले दिनों हटा दिया गया। उन्होंने बताया—इससे 'कंपनी' को 8-9 लाख रुपये सालाना की बचत हुई।
- उन्होंने बताया, मुझे किसी को किसी से (संपादकजी से) मिलाने में आपत्ति

नहीं है। जब आपत्ति होती है, तो कुछ कहने की बजाय किसी को भी अखबार से निकाल बाहर करता हूं। कल ही एक नवनियुक्त पत्रकार के बारे में खबर लगी कि वह दैनिक जागरण में नौकरी के लिए ट्राई कर रहा है। उसे मैंने उसी समय बाहर का रास्ता दिखा दिया।

❑

दूसरी ओर, दैनिक भास्कर के लिए नए ब्यूरो प्रमुख के साथ मैं किसी कीमत पर काम करने के लिए तैयार नहीं हूं। उसने दफ्तर ज्वाइन करते ही सभी पत्रकारों को संबोधित करते हुए कहा था :

- काम करना हो तो करें, नहीं तो अभी बाहर जाएं। अभी के अभी 2-2 हजार पर 10 रिपोर्टर रख लिए जाएंगे।
- 'शहर' को फोकस करें। लड़कियों के बिंदास फोटो लाएं। परिचर्चाएं करें। चमकते चेहरों की। यह नहीं कि किसी एससी/एसटी की फोटो ले आएं...।

यह है युवाओं के लिए विकल्पों से भरी दुनिया!
मुझे अपने 3 साथियों के साथ सांपनाथ और नागनाथ में से एक का चुनाव करना है। तीनों सहकर्मियों सुमेश ठाकुर, कंवर और पंडी जी की इच्छा देखता हूं कि अमर उजाला में जाने की है। चलो... जो होगा देखा जाएगा...। एक नरक और सही!

17 अक्टूबर, 2005

बहुत दिन हो गए, न पढ़ने का समय है, न लिखने का। विचार बवंडर की तरह चक्कर काटते हैं। लिखना तो दूर उन्हें ठीक से देख भी नहीं पाता हूं। हर बार जैसे चिपचिपी देह पर धूल की एक और परत जम जाती है।

24 अक्टूबर, 2005

'कानूनी किताबें उनकी
कारखाने हथियारों के
पादरी प्रोफेसर उनके
जज और जेलर तक उनके
सभी अफसर उनके
वो सब कुछ करने को तैयार

अखबार, छापेखाने
हमें अपना बनाने के
बहाने चुप कराने के
नेता और गुण्डे तक उनके
वो सब कुछ करने को तैयार

एक दिन ऐसा आएगा
पैसा फिर काम न आएगा
धरा हथियार रह जाएगा
और ये जल्दी ही होगा
और ये जल्दी ही होगा

—ब्रेख़्त

यह कब होगा ब्रेख़्त? आज अखबार में खबर छपी है। भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने कहा कि 'समान कार्य, समान वेतन का सिद्धांत दिहाड़ी या कॉन्ट्रेक्ट पर काम करने वाले लोगों पर लागू नहीं होता...'। जब-जब ऐसी चीजें देखता हूं तुम्हारी याद आती है। वर्णवादी देश में तुम्हारी इस कविता का थोड़ा अलग पाठ भी है ब्रेख़्त।

25 नवंबर, 2005

कुछ लाल-दिखता है! किसी मानव देह से अभी-अभी निकाले गए हृदय-सा। मुलायम-चिकना-फकफकाता। खूबसूरत, जीवन से भरा। थोड़ा समय बीतता है...। थाक। लकड़ी के हथोड़े-सा कुछ उसके एक किनारे पर पड़ता है। खून छिटका और वह किनारा काला हो गया। थाक...! फिर छिटका खून। थाक... थाक... थाक!! और फिर : यह कोई सुआ है या मोटा-सा तिकोना अंकुश...? टप, टप... लहू... छींटे पड़ रहे हैं। खुद अपना चेहरा पहचान नहीं पा रहा। लाल छींटों के बीच आंखें जगमगाती हैं।

वह किसका हृदय? जो हथौड़ा चला रहे; वे कौन-कौन? वह अंतिम कौन जिसने उसमें सुआ भोंककर ऊंचाई पर लटका दिया? जीवन खत्म है, फफकना धीमा होता जा रहा है। इसे रोकना होगा। इसे बंद नहीं होना चाहिए। संभावनाएं हमेशा शेष रहती हैं। पर कैसे? खून की जमी पपड़ियों के बीच खत्म होते जा रहे जीवन को कैसे रोकूं?

12 दिसंबर, 2005

भारतेन्दु, दिव्य हिमाचल, दैनिक भास्कर, पंजाब केसरी और अब अमर उजाला। इन सबमें कई बातें समान हैं। शिमला, कांगड़ा और जालंधर में काम करते हुए इनकी आंतरिक सामाजिक संरचना की कारगुजारियां देखता रहा हूं। संपादकीय डेस्क से लेकर रिपोर्टिंग तक में हिन्दुओं की ऊंची जाति के लोग लगभग 90 फीसदी हैं। ज्यादातर उच्च पदों पर ब्राह्मण हैं और नीचे के पदों पर दूसरी सवर्ण जातियों के लोग। पत्रकारिता में कार्यरत अधिकांश सिर्फ, 'सवर्ण' नहीं हैं, बल्कि घनघोर जातिवादी भी हैं।

वंचित सामाजिक समूहों के प्रति घृणा व्यक्त करने, उनका मजाक बनाने के लिए हिन्दी समाचार पत्रों के कार्यालयों के दफ्तर अभयारण्य की तरह हैं, जहां अपनों के बीच के खुलेपन की राहत भी होती है और बहुमत का भय भी नहीं रहता।

आज दफ्तर में एक सवर्ण सहकर्मी ने सांसदों द्वारा संसद में प्रश्न पूछने के लिए घूस लेने का प्रकरण छेड़ा। तहलका और आज तक के सहयोगी स्टिंग ऑपरेशन में कई सांसदों को पैसा लेते हुए दिखाया गया है। इस प्रकरण पर दूसरे सवर्ण सहकर्मी ने चुटकी ली बंगारू लक्ष्मण तो हरिजन है, इसलिए कम पैसे पर बिक गया, सुरेश चंदेल ने 'ठाकुर' होकर इतने कम पैसे में बिक गया! नाक कटवा दी। ब्राह्मणों व अन्य सवर्णों ने इस पर लंबी बातचीत करते हुए गंभीरता से हामी भरी।

❑

15 दिसंबर को अर्चना और बेटियों के साथ पटना जा रहा हूं। आर्थिक दिक्कतों की निम्नतम सीमा झेलने के बावजूद उन्हें अब यहां रख पाना संभव नहीं है।

21 जनवरी, 2006 (ए-1/3 एसडीए कॉलोनी, विकासनगर, शिमला, नया कमरा)

एक बार फिर नौकरी छोड़ने पर विचार कर रहा हूं। लेकिन इस बार अखबार नहीं, इस कथित मुख्यधारा की पत्रकारिता से ही पिंड छूटना चाहिए।

22 फरवरी, 2006

अरसे से लिखना-पढ़ना ठप है। रह-रहकर मन बहुत उदास हो जाता है। नौकरी छोड़ने की हिम्मत जुटाने में इतनी देर क्यों हो रही है?

❑

1 मार्च, 2006

शाम उतर रही है। रक्ताभ सूर्य अभी-अभी खिड़की के सामने वाले मकानों की ओट में हो गया। पहाड़ के शिखरों पर अभी लाल शेष है। धीरे-धीरे वह गायब होगा। रात की शांति उतरती जाएगी...

भारतेन्दु शिखर के साथ शुरू हुआ क्षेत्रीय पत्रकारिता-कथित मुख्यधारा का मेरा चक्र आज पूरा हुआ। कल 28 फरवरी को चंडीगढ़ में अमर उजाला के संपादक से इसी संदर्भ में मुलाकात करने गया था। उन्हें यह 'खबर' ब्यूरो प्रमुख महोदय ने पहले ही दे दी थी। लेकिन उन सज्जन को मेरे पूरे इरादे की 'भीतरी खबर' नहीं थी। संपादक मिलते ही बरसने लगे। कहा, आप पत्रकारिता के काबिल नहीं हैं, मैंने उन्हें अतिशय विनम्र शब्दों में बताया कि मैं भी अरसे से इस धंधे में खुद को मिसफिट पा रहा हूं। आप लोग महान हैं, गलती मेरी ही है। उनका चेहरा उतर गया। वह अपनी नाराजगी के एवज में अपने 'पत्रकार' की गिड़गिड़ाहट सुनने की आस लगाए थे।

इस पेशे को छोड़ने और लेखकीय जीवन बिताने की योजना अमर उजाला में आने के समय से ही अंखुआ रही थी। राजकुमार राकेश ने इस निर्णय तक पहुंचने के क्रम में नैतिक बल दिया। अन्य मित्रों की सलाह पहले जीविका का कोई और बंदोबस्त कर लेने के बाद नौकरी छोड़ने की थी। लेकिन अखबारी माहौल मुझे अनंत बेचैनी और गहन उदासी में धकेल रहा था। दफ्तर जाते मन कलपता था। वह माहौल किसी को भी मनुष्यता की सीमा-रेखा से नीचे ला पटकता है। इन दिनों दिल्ली में नवभारत टाइम्स को अपनी 'सेवाएं' दे रहे एक कवि की कविता 'काम' याद आती है :

'मुझे बताया गया
काम तो ठीक ही होता है
काम देने वाला भी ठीक ही होता है
दरअसल आपको ठीक होना पड़ेगा

खुद को ठीक करने के लिए
मैं आज्ञाकारी बनता चला गया
इतना आज्ञाकारी बन गया
कि मुझे डर लगने लगा
कि अब शायद कभी किसी को

न नहीं कह पाऊंगा
संभव है अब मुझे कभी जीवन में
क्रोध न आए

मुझसे कहा जाएगा
आप आदमी नहीं पाजामा हैं
मैं कहूंगा-हां

मेरी तनख्वाह आधी कर दी जाएगी
मेरा काम मुझसे छीन लिया जाएगा
और मैं एक शब्द नहीं कहूंगा
अपनी हत्या के विरोध में।'

—संजय कुंदन

❑

तमाम विकल्पहीनता, दुःसंभावनाओं के बावजूद इन अखबारों की नौकरी छोड़ देने का मेरा यह निर्णय ठीक है। हालांकि आज मदन कश्यप जी का पत्र मिला है। लिखते हैं : 'मेरी राय मानिए, तो अभी नौकरी नहीं छोड़िए। मैं यह प्रयोग कर चुका हूं और भुगत चुका हूं।' पता है, मैं भी भुगतुंगा; लेकिन उस व्यवस्था के साथ कैसे रहा जा सकता है, जो मेरी मानसिक, शारीरिक बनावट को विषैला बनाती जा रही थी?

(शाम)

आज मुक्ति का पहला दिन था। शाम ढल चुकी है। रात का धुंधलका उतरने लगा है। धीरे-धीरे शांति उतरेगी। तन-मन में उनका विष धीरे-धीरे कम होता जाएगा। जल्दी ही सुबह होगी, मैं अपने स्व-भाव में लौट सकूंगा।

खण्ड 2

कविताएं व कहानी

कविताएं

शिमला में हिमपात

1.

बर्फ गिरेगी

ठंड बढ़ रही है।
बादलों को पुकार रहे देवदार
आज बर्फ गिरेगी

धोती में लिपटे बापू
इन्दिरा ने भी नहीं डाला पट्टू
हाय इन्हें तो ठंड लगेगी
आज बर्फ गिरेगी

यह क्या?
बिलकुल निर्वस्त्र है चिनार

◆◆◆

[शिमला की ऐतिहासिक 'द रिज' सड़क पर महात्मा गांधी व इंदिरा गांधी के बुत बने हैं तथा आसपास देवदारुओं के ढेर सारे वृक्षों के बीच दुर्लभ प्रजाति का एक 'चिनार' भी है]

2.

मुबारक हिमपात!

उतर रहे फाहे
सजे देवदार
ज्यों बनिए के सपने में
उतरे हों सिक्के
उतरा तुषार।

धवल रजत
लोअर बाजार
रिज, माल।

थमी हवा
रुक गए हाथ

होटलों में खन-खन
मुबारक हिमपात!

3.

अबके भी

इतनी बर्फ!
चहक रहे मेजबान
बहक रहे सैलानी
फेंक के गोले
बन रहे भोले

चकाचक 'गुफा'
जगमग 'हिमानी'

इधर,
टूटी टांग
छिल गई कुहनी
गिर गए पापा
फिसली नानी
बिजली गुल
जम गया पानी!

अबके भी वही
बात पुरानी।

◆◆◆

['गुफा' और 'हिमानी' शिमला के लोकप्रिय मदिरालय हैं।]

4.
कच्ची बर्फ

धवल कपास
कपोत नवजात
किशोरी समूह
सद्यस्नात।

दब रही
कुचल रही
हर तरफ ब्याघ
कातर पुकार
हुई मैली
बिलकुल मटमैली
गल रही तिल-तिल
हो रही विलीन
विकल्प बस एक अब;
आत्मघात

◆◆◆

शिमला

घाटियों में अटका
पहाड़ों पर लटका शहर

गिरा गिरा
अब गिरा
इतनी तो बरफ़ पड़ी
तब भी नहीं गिरा!

कस्तूरी

हर तार पार आती
वह।
साध?

कस्तूरी
अधरों में
अमृत, कि सुबास जोहती?

उसकी ही नाभि-गंध
मुझमें रची है
उसके ही परस से
अमृतमय हुआ

सारंगा जान जाए तो?

तुम्हारी हँसी

जैसे शिमला में बरफ़ के बाद
खिली
और पसरती ही गई
धूप!

टिकुली : दो कविताएं

1.
न मंगलसूत्र-सी आरोपित
न आयाचित नौलक्खा हार-सी

गोल
छोटी, बड़ी
अनेकानेक विन्यास
सर्पाकार नक्काशीदार
किस डिजाइनर ने बनायी होगी पहली टिकुली?
कोई नहीं जानता इनका
व्यतीत।

संभवतः किसी सद्यस्नात वेणुवन कन्या ने
वैजयंती की पीली, लाल, चितकबरी पंखुड़ियों में से
एक को मोड़ा होगा
और
फीके चाँद को सोचते तर्जनी पर रख
अँगूठे से बींध दिया होगा गोलाकार
जिह्वा से कर गीला
सजाया होगा साँवरा लिलार

धवल जल में झाँक
छमक-झमक इतरायी होगी अपनी खोज पर

2.

टिकुलियाँ तो देखी होंगी आपने भी

बाज़ार
सिंगारदान
प्रेयसी के ललाट
अलसाये सुबह
अपने काँधे पर,
स्नानगृह की चौखट
रसोई की दीवार
और
निशाकाल आकाश के सीने पर भी!

नये किराये के मकान में
सामान टिकाते हुए,
घुसपैठ से विचलित
घूरती टिकुलियों से लगाया होगा
घरनी की खनक
कमरों की पुरानी रौनक का अनुमान

आपको भी तो चाहिए करना
इनके इतिहास का संधान।

खाकी निक्करों की जेब से
बिखेरी गयी
भगवा धुंध के बीच–
शहर से
रामनामी धारियों के
गुजर जाने के बाद
क्या आपने देखी हैं
मलबों से झाँकती

लहुरंगी कत्थई, कातर
टिकुलियाँ?

सगलगी

कभी कवि लिखते थे
छलकते पयोधर
देखने ठहर जाती थी कायनात

कहते हैं अब भी
वात्सल्य उमगता है
उस पेंटिंग से
जिसमें एक माँ है
दूध पीते बच्चे के साथ

सरकारी स्कूल से घर लौटती
एक कंधे पर बस्ता
दूजे में
दूध का डब्बा
खाली
खेतों की मेढ़ें फलाँगती
तन्वी की उभरती अंठली?

इस अपीन कोंपल पर तो उमड़ती है सगलगी
सिर्फ और सिर्फ
सहोदरा-सी।

किताब

जैसे भाषा में
बरसते हैं रिमझिम मेघ
सिंदूरी होती है शाम
रक्ताभ होता है सूर्योदय

सन्नाटा बुनते हैं पहाड़
शहरों में बजता जीवन-संगीत

वैसे ही...
हँसती है
खनखनाती हँसी वह
जैसे होता है किताबों में

एक दुनिया है किताबों के भीतर
एक किताबों की अपनी दुनिया
गर चाहें तो कहें-
दुनिया भी है एक बड़ी किताब
आद्यांतहीन।

साउथ ब्लॉक में गांधी पर

(राजकुमार राकेश का कहानी-संग्रह)

हौले से छूता हूं अग्रज मित्र की किताब
कितना सुंदर कवर
उतना ही नामी प्रकाशक
कान लगाया, सुना
अक्षरों से ध्वनित :
अ-क्षर...अमर।

करनी है अभी मिहनत
बनना है अभ्यास
रखनी है नजर दूर, पास-सब तरफ।

आता है परदा अनायास
उभरती है आस
होगी अपनी भी पुस्तक
मेरा नाम होगा
बाहर

भीतर
उसके खड़े किनारे पर।

परदा पलट
सोचा...
इससे इधर का समय हिलेगा?
देखा
कुछ नहीं बदलेगा
उससे कहीं कुछ नहीं बदलेगा

किताबें आती हैं
आकर चली जाती हैं, सचमुच
बिना कुछ बदले, लेकिन तुम्हें
और मनुष्य करके!

मुझमें पिता

ताई कहती
काठी, झूलते बाल
या कि
कुल प्रकृति ही पाई
पिता जैसी
संशय, धैर्य
अपने सोचे पर निश्चिय
या कि क्रोध कायराना
जो उतरता है
अपनों पर ही
सभी बातें उन्हीं जैसी

कभी नहीं भूलती
मुझमें जीते हैं पिता ही

अक्सर
ग़ौर करते हैं पिता
मेरे हकलाए स्वर
हताश चेहरे
टूटे वाक्य
वाक्यांशों के अंतराल पर

और
जैसे...
पच्चीस साल की हवा को
साँसों में भरते
या कि लौटते हों
बीस साल पहले
हारे हुए संघर्ष में
ऐसा संतुलन
जैसे भीषण गहरे से
खींच रहे हों आवाज़

बहुत धीरे :
जीवन तो/है
संघर्ष ही
झुकना मत
हरदम/हूँ

साथ
तुम्हारे...
इस तरह मुझमें संक्रमित
होते हैं पिता
संख्य-असंख्य रूपों में
आज भी।

आशीष

खूब देखना सपने, उन्हें
जीने के लिए।

मुझ इतिहास की उंगली छोड़
अद्यतन के मुहाने से, लेना
छलाँग भविष्य की ओर
और हरदम
समय को रखना
पैरों की नोक पर
शत्-शत् सूर्यों की ऊष्मा भर
करना प्रेम
चिर युवा
क्रांति गीतों-सी दमकना

बिटिया,
जुदा नहीं जीवन और स्वप्न

◆◆◆

(2002 से 2005 के बीच लिखी गई कविताएं)

कहानी

रामकीरत की रीढ़

रात 9 बजे के बाद आई सामान्य खबरें स्वीकार्य नहीं! बड़ी दुर्घटनाओं और अपराध के अलावा सब कुछ वर्जित। यह वह वक्त होता है, जब वे समुद्र तट पर बिखरे लाल केकड़ों के बाल-समूह की तरह खदबदाने लगते हैं।

देखिए, वे लंबे-लंबे डग भर रहे हैं, लगभग दौड़ रहे हैं। कंप्यूटर कक्ष से संपादकीय डेस्क, डेस्क से विज्ञापन विभाग, प्रभारी की कुसी से संपादक के कमरे तक। 10 बजे तक हर पन्ना संपादक जी के पास होना चाहिए। सभी संस्करणों की छपाई उसके बाद शुरू होगी।

इस दौड़ में रामकीरत अलग से पहचाना जा सकता है। संपादकीय पृष्ठ तैयार करने जैसी महत्वपूर्ण जिम्मेदारी के बावजूद वह खटके से दौड़ नहीं पाता। लंबे डग भरते केकड़े एक-दूसरे को कोंचते हैं–'यह तो विचित्र ही जीव है!' फब्तियां कीरत की हीनता ग्रंथी को और बड़ा कर देती हैं। पर वह करे तो क्या? ऐसी मुस्तैदी बाजार में तो मिलती नहीं कि खरीद लाए। वह बहुत समय से ऐसा ही है। उसकी मानसिक बुनावाट भी शारीरिक संरचना के अनुरूप हो गई है।

केकड़े फुसफुसाते हैं ''नया आया रामकीरत बीते काल का रीढ़धारी दोपाया है''। उनकी बात गलत नहीं है। दरअसल, रामकीरत इस मंझोले कद के क्षेत्रीय अखबार की नौकरी रीढ़ वाली बात छुपाकर ही पा सका है। वह रीढ़ अपने किराए के कमरे में ही छोड़कर दफ्तर आता है। सोचता है, धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा। अक्सर साथी केकड़ों से पूछता है कि आप यहां कितने सालों से हैं? दरअसल, इस बहाने जानना चाहता है कि लुंजपुंज हो रही उसकी पीठ को केकड़ानुमा बनने में कितना समय लगेगा।

कीरत कभी-कभी सोचता है कि जीव मात्र कितना अनुकूलनशील होता है। देखो, रीढ़ लुप्त कर कैसी क्रकची भुजयष्टि विकसित कर ली इन्होंने।

गौर करने पर उसने जाना है कि ये जन्मजात केकड़े नहीं हैं। लेकिन इससे पहले वे क्या रहे होंगे, बहुत सोचने पर भी स्पष्ट खाका नहीं बना पाता। वह उनकी दांतदार क्रकचों से डरते; ईर्ष्या करते नौकरी किए जा रहा है।

कभी वह सोचता है, ...ओह, इस सूचना युग में भी मेरी बाहें और हथेलियां जस की तस हैं! वह अच्छी तरह समझता है कि जल्दी ही, सूचना युग के भीतर आने वाले; और बाहर रह जाने वालों में उतना ही फर्क हो जाएगा, जितना प्रागैतिहासिक काल में दोपाया हो जाने और बंदर रह जाने वालों में हो गया था। हालांकि, इस भविष्य-बोध का फायदा तो तब है, जब जैविक गुण पीछा छोड़ें। कौन नहीं जानता, सूचना युग में प्रवेश के लिए क्रकचों का होना जरूरी है।

कीरत के लिए इसमें सबसे बड़ी बाधा है उसकी रीढ़। उसका अनुमान है कि क्रकच का निकलना और पीठ का केकड़ानुमा होते जाना, साथ-साथ चलने वाली जैविक क्रियाएं हैं। ठीक वैसे ही जैसे 'मानव विकास काल' के अंत में पूंछ सिकुड़ती गई होगी और बाहें निकली होंगी, फिर हथेलियां..और फिर शायद धीरे-धीरे जमींकंद की कोंपलों-सी उंगलियां।

यूं तो कीरत सूचना युग के क्षेत्रीय ही सही, पर एक महत्वपूर्ण केंद्र का हिस्सा है, किन्तु क्या करे, अगर बाहें अंगूठे वाली हथेलियां क्रकचों में नहीं तब्दील हो रहीं। 24 में से 16 घंटे रीढ़ से जुदा रहने के कारण उसकी पीठ अजीब लचलची तो होने लगी है। पर सहकर्मियों जैसी सख्त परत वाली हो ही नहीं रही।

आदतों से बिछुड़ना बहुत पीड़ादायक होता है। दफ्तर में बहुत बेचैन करती है, कीरत को रीढ़ की टीसती हुई खाली जगह। यही कारण है कि भयानक खतरों की पक्की जानकारी के बावजूद वह कभी-कभी अपनी रीढ़ के साथ दफ्तर पहुंच जाता है। उस दौरान यदि प्रभारी की कुर्सी तक या संपादक के भव्य कक्ष में जाना हो, तो रीढ़ को आहिस्ता से निकालकर दराज में रख देता है। केकड़े भी तो ऐसे मौकों पर झट से अपनी क्रकचें समेट लेते हैं।

दरअसल, रीढ़ कीरत की आदत ही नहीं जरूरत भी है। लेखों के लिए पैरवी करने वाले दबंग संवाददाताओं को फोन पर हड़काना हो या छपास पीड़ित अफसरों को, रीढ़ उसकी आवाज को सहमने से बचा लेती है। क्रकच-संपन्न केकड़े तो इस तरह के काम धड़ल्ले से करने की क्षमता रखते हैं। (ओह, वे कितने धुरंधर हैं, फोन के उस पार वाले को भी बिना स्थान-व्यवधान के कतर डालने में निपुण!)

कीरत आज फिर रीढ़ के साथ दफ्तर आ पहुंचा है!

रीढ़ के कारण दिन भर वह खुद को मजबूत महसूस करता रहा। उसे लगा,

रीढ़ साथ हो तो काम भी जल्दी निपटता है। कीरत ने आज रात लगभग सवा नौ बजे ही अपना संपादकीय पन्ना अन्य संस्करणों के लिए मॉडम पर जारी कर दिया।

वह अप्रत्याशित फोन साढ़े नौ बजे आया : ''4 नंबर, 'एडिटोरियल पेज' आप देखते हैं?''

''जी, बताएं!'' जाहिर है कीरत ने रीढ़ लगाई हुई थी।

''पाठक के पत्र में लॉटरी वाला हटाकर कुछ और दीजिए''

''क्यों क्या है उसमें?'' रीढ़ ने कीरत को पूछने के लिए मजबूर किया; ''आप...'' दूसरा सवाल पूरा होने से पहले ही अजीब-सी लय में फोन से आई आवाज भीगे हुए जूते की तरह कीरत को आ लगी ''लॉटरी पर कमेंट है रे भाई!''

आवाज के इस रवैये पर रीढ़ को तनना ही था। हिंदी दैनिक के उप संपादक रामकीरत पर गुस्से में अंग्रेजी चढ़ बैठी : ''मे आई नो, हू आर यू टू आस्क?''

''जीएम बोल रहा हूं भइए!'' फोन काट दिया जनरल मैनेजर साहब ने। कीरत को समझते देर न लगी कि रीढ़ की वजह से गड़बड़ हो चुकी है।

वह राज्य सरकार द्वारा लॉटरी फिर से शुरू करने के विरोध में छपासू पाठक का पत्र था। कीरत को ऐसे लोगों के प्रति हमदर्दी है। उसे इन खतों से अक्सर अपने नाना की याद आ जाती है। वह भी अखबारों में खत लिखा करते थे। उस जमाने में जब उस सुदूर कस्बे के आखिरी कोने में स्थित ब्लॉक कार्यालय और अदालत परिसर में एक मात्र घिस-घिसकर चलने वाली फोटो कॉपी मशीन होती थी; वह उसे लेकर छपे खत की फोटो कॉपी करवाने जाया करते। उस दिन वह बहुत खुश होते और कहीं पान तो कहीं चाय पीने रुककर लोगों को पत्र में वर्णित समस्या की विकरालता के बारे में बताते। कीरत को उस दिन रास्ते में जलेबी जरूर मिलती।

आज कीरत यह जानता है कि इन खतों की कोई अहमियत नहीं है, फिर भी उसे लगता है इन खतों को लिखने वाले लोग अपने आस-पड़ोस और समाज के प्रति गहरी चिंता से भरे होते हैं। आज उसने जो खत छापा है उसे पाठक ने शीर्षक के साथ ही भेजा था : ''जनता को जुआरी न बनाएं''। उसने खत में लिखा है कि : ''पहले भी हमारा राज्य लॉटरी का परिणाम भुगत चुका है। लॉटरी माफिया तत्त्वों को और ताकतवर बनाती है। जबकि छोटे दुकानदार, मजदूर, रिक्शा -ऑटो चालक, बस कंडक्टर आदि इसकी चपेट में बर्बाद हो जाते हैं। लॉटरी शाम ढले देसी शराब के ठेकों की भीड़ बढ़ा देती है। झोपड़पट्टियों से उठने वाली औरतों के विलाप के करुण स्वर की खातिर भी इसे

बंद किया जाना चाहिए। अफीम से कम खतरनाक नहीं है लॉटरी। कृपया समाज को इस मृगतृष्णा से बचाएं।'' इस खत में ऐसा क्या है कि जीएम साहब को फोन करना पड़ा?

कीरत ने पत्र फिर से पढ़ा। उंहूं, यह फोन भरोसेमंद नहीं लगता। कहीं जीएम साहब के नाम पर कोई और मजाक करने के लिए तो फोन नहीं कर रहा? जाकर संपादक जी से बात करनी चाहिए; उसने सोचा और सबकी नजर बचाते हुए रीढ़ दराज में डाल उठ खड़ा हुआ।

संपादक जी के कमरे से पहले विशाल बरामदे के अंतिम दरवाजे की ओट लेकर एक बार फिर गर्दन से कमर तक उंगली गड़ाकर रीढ़ न होने की तसल्ली की। उस कमरे में हुई जरा-सी भी चूक उसकी नौकरी निगल सकती थी।

''मे आई कम इन सर?''

संपादक जी ने अधखाया सेब हड़बड़ाकर छुपा लिया। कीरत जान गया है कि उनकी यह क्रिया नमूदार को दी गई प्रवेशानुमति होती है। बिना उसकी ओर देखे संपादक जी सामने रखा अंग्रेजी शब्दकोष उलटने लगे। उनके ललाट पर क्षणांश में ही माकूल शब्द की तलाश की रेखाएं और चेहरे पर व्यस्तता उतर आई थी। संपादक जी किसी भी क्षण कोई भी मुद्रा अपनाने में सक्षम हैं—उसने सोचा। उसे लगा कि रीढ़-विहीन रहने की आदत भले ही हो जाए लेकिन यह कला वह शायद कभी नहीं सीख सकेगा।

''सर जी, जीएम साहब ने इसे हटाने को कहा है'' लॉटरी वाले पत्र पर उंगली रख कर कीरत ने संपादक जी को बताया। उंगली वाली जगह पर नजर पहुंचते ही संपादक जी की भवें बिलकुल सिकुड़ गईं। इतनी कि, लगा उनका चश्मा बाहर आ गिरेगा। उनके चेहरे पर ऐसी वितृष्णा थी कि जैसे कीरत ने टेबल पर कोई केंचुआ ला रखा हो, जिसे वे अभी अपने क्रकचों से काट फेकेंगे।

''कहां रहते हो तुम? कल ही पूरे डेस्क को बताया गया है कि लॉटरी पर कुछ भी नहीं जाएगा। न कोई खबर, न कोई बयान। कोई भी आइटम नहीं। 'वीर हिमाचल टाइम्स' न विपक्ष का प्रवक्ता है, न सत्ता का पैरोकार। मैनेजमेंट ने तय किया है कि अखबार को लॉटरी के पक्ष या विरोध की राजनीति का मंच नहीं बनने दिया जाएगा।''

''सर जी, मेरी साप्ताहिक छुट्टी थी कल'' रीढ़ साथ न होने के कारण कीरत को अपनी आवाज सहमा लेने में दिक्कत नहीं हुई

''छुट्टी थी, क्या वो है! पत्रकार को आंख-नाक खुले रखने चाहिए'' उनकी

आवाज अभी भी बिफरी हुई थी, लेकिन चश्मा अपनी जगह पर आ लगा था। ''इस लॉटरी की जगह कुछ और लगाकर जल्दी पन्ना छोड़ो।''

कीरत कंप्यूटर पर आ बैठा। क्या दे इस पत्र की जगह। उसने पत्र हटाकर खाली जगह पर बॉक्स की लकीरें खींच दीं। क्या रखे इस बॉक्स में? एक बोध कथा तो संपादकीय पन्ने के दूसरे कोने पर पहले से ही जा रही है। संबंधित परिवर्तन करने के बाद वह फिर संपादक जी के कमरे में पहुंचा, तो घड़ी 10 बजा चुकी थी। संपादक जी अंतिम डमी का मुआयना कर रहे थे।

डमी देखते ही रामकीरत की समझ गड़बड़ाने लगी। पेज 5 पर लॉटरी का विज्ञापन था और पेज 6 पर सरकारी उपलब्धियों का। संपादक जी ने डमी पलटी, तो उसने देखा; निम्न-मध्य वर्गीय युवाओं, झोंपड़-पट्टी की औरतों और असलियत में कैमरे से बाहर रहने वाले सीमांत किसानों के मॉडलों से 7 नंबर भी सजा था। शायद 8 नंबर पन्ने पर भी ऐसे ही फोटाग्राफों के माध्यम से इस सरकार के दौरान हुए गरीबों के उत्थान को दिखाया गया था। 'दुनिया टुडे' नामक परिशिष्ट पहले की तरह दुनिया-भर की खूबसूरत औरतों व हॉलीवुड-वॉलीवुड के गॉसिप्स से सजा था।

लेकिन, अब वह कुछ देख नहीं पा रहा था। डमी पर नजरें गड़ाए उसकी सभी अस्थियां थरथराने लगीं। उसे लगा, सभी चीजें हिलने लगीं हैं, उसके सामने का पूरा दृश्य कांप रहा है। सच-झूठ के उसके तमाम समीकरण उलट-पुलट होने लगे, दिमाग ने जैसे पेंडुलम गति पकड़ ली हो।

संपादक जी की ओर संपादकीय पन्ना बढ़ाते हुए अपना हाथ स्थिर रखने में कीरत को पूरा जोर लगाना पड़ा।

'वैरी गुड' संपादक जी ने प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री की लधुकथा पर ठीक का निशान लगाते हुए कहा, "व्यावहारिक बनिए कीरत महाराज; और सुनिए..." कीरत को उनकी नरम आवाज एक नए मुखौटे से आती लगी ''यह आप हमेशा थरथराते क्यों रहते हैं? जरा चौकस बनिए और अपनी बॉडी लैंग्वेज सुधारिए!''

संपादक जी ने इतना ही कहा पर कीरत को लगा कि वह कुछ और भी बुदबुदा रहे हैं... जैसे कह रहे हों 'सूचना युग अजेय है, इसमें सबकी देह भाषा बदल रही है, कांग्रेस की बदल रही है, भाजपा की बदल रही है, कम्युनिस्टों की भी बदल रही है। मध्य प्रदेश की बदल गई, गुजरात की तो पूरी ही बदल गई। बिहार भी बदलना चाह रहा है अपनी देह भाषा। बंगाल और केरल भी पीछे नहीं हैं। आखिर चीन भी तेजी से बदल रहा है अपनी देह भाषा, सोवियत संघ की तो खैर

देह ही नहीं रही! ....फिर यह रामकीरत..'

संपादक जी की बुदबुदाहट कीरत पकड़ नहीं पा रहा था। उसे लगा वह उसे केकड़ा बनाने का मंत्र पढ़ रहे हैं। उसे संपादक जी की उंगलियों में सजी 12-13 अंगूठियों में लगे नीलम, हीरे, गोमेद, लहसुनिया, पुखराज, मोती, मूंगा आदि अचानक अजीब तरह से चमकते लगे।

(2003, धर्मशाला, हिमाचल प्रदेश)

खण्ड 3

आलोचना

विपाशा के कविता अंक से गुजरते हुए

कविता के बारे में कहने और जानने के लिए इतना है कि
एक उम्र गुजर जाएगी सफेद हो जाएंगे हमारे बाल
तब भी हम कविता के बारे में कुछ न कुछ और जानते
रहेंगे।–नरेन्द्र जैन, विपाशा के कविता विशेषांक में।

'विपाशा' के वृहत कविता अंक से गुजरना कविता को कुछ और जानने और उसके बारे में कुछ कहने का एक अवसर उपलब्ध करवाता है। यह एक साथ कई पीढ़ियों की कविताओं, उनकी वैचारिक अवधारणाओं के सिंहावलोकन का ही अवसर नहीं, बल्कि ऐसा अनुभव है जैसे एक-एक कर कई दरीचे खुल गए हों आप पेशोपेश में हों कि किस दृश्य से बात शुरू की जाए।

सूर्यकांत त्रिपाठी निराला। चलिए, निराला जी से ही शुरू करते हैं। विपाशा के इस अंक की वैचारिकी का खंड भी उन्हीं से शुरू होता है और एक तरह से वर्तमान हिन्दी कविता की यात्रा भी। उन्होंने छंदों से ही मुक्ति नहीं दिलायी, खालिस रूमानियत की जेल से कविता को बाहर निकालने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है। यद्यपि वह कुछ प्रतिगामी रुझानों के कवि हैं, पर उनकी प्रतिभा विलक्षण थी। उनका कवित्व, शब्द चयन का उनका विवेक चौंकाता है। मसलन, मुक्तछंद के विरोधियों को उत्तर देते हुए वह 1924 में मुक्तकाव्य की परिभाषा करते हैं कि '(जो कवि) भाव के आने पर अपने शब्दों को किसी निर्दिष्ट छंद में न बांधकर उन्हें अनर्गल रूप से–ज्यों-ज्यों वे निकलते आते हैं, उसी रूप में लेखबद्ध कर लेते हैं–वही मुक्तकाव्य कहलाता है' (विपाशा : 123-124, कविता विशेषांक में पृष्ठ-134 पर निराला का पुनर्प्रकाशित लेख)। यहां अनर्गल का क्या अर्थ है? निराला कह रहे हैं, जो मरजी सो, फालतू चीजें लेखबद्ध कर देना ही मुक्तकाव्य है! अनर्गल का रूढ़ अर्थ तो यही कहता है। लेकिन जब आप इस शब्द के उत्स की ओर

जाते हैं तो भेद खुलता है। दरवाजा बंद करने वाली अगड़ी को कहते हैं–'अर्गल'। अर्गल यानी रोक, अवरोध। 'अनर्गल' माने बेरोक, अबाध। यानी मुक्त काव्य वह है, जिसके दरवाजे भावों के प्रवेश के लिए अबाध रूप से खुले रहते हों।

'राम की शक्तिपूजा' में शब्द चयन का यह निराला विवेक प्रखरतम है। प्रगतिशील मूल्यों की पक्षधर आलोचना जब कलावाद पर प्रहार करती है, तो अनेक बोदे कवि भी झूम उठते हैं। कलावाद का विरोध करने वाली आलोचना उन्हें अपनी लदर-फदर भाषा और बासी काव्य वस्तु के पक्ष में प्रमाण पत्र मालूम पड़ती है। जबकि कलावाद की आलोचना कलात्मकता का, सौंदर्य का विरोध नहीं होती। कविता का बाह्य सौंदर्य उसकी शाब्दिक संरचना से बनता है। कोई भी विवेकसंगत आलोचना इसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। कलावाद का विरोध यथार्थ से पलायन का विरोध है। वह 'स्वांतः सुखाय' पर अतिशय बल देने को गलत बताता है। जैसा कि मुक्तिबोध याद दिलाते हैं 'सौंदर्य का मूल अर्थ है, एक विशेष मनोवैज्ञानिक प्रकार का प्रभाव।...जब हम कवि-जीवन की, अथवा काव्य के पार्श्व और प्रेक्ष्य की बात करते हैं, तब हमारी दृष्टि वास्तविक जीवन के पार्श्व और प्रेक्ष्य की तरफ जानी चाहिए' (वही, पृष्ठ-40)। बहरहाल, हम निराला के साथ-साथ मुक्तिबोध के काव्य से भी शब्दों के प्रयोग-कौशल की क्षमता से अवगत होते हैं। इस कौशल की एक अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति आजीवन कलावादी होने का आरोप झेलने वाले हिंदी के महत्वपूर्ण कवि अज्ञेय के साहित्य में भी मिलती है। अन्य कलारूपों से कविता की तुलना करते हुए वह कहते हैं 'शब्द का सृजनात्मक प्रयोग कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया होती है और बहुत स्तरों पर कठिन नियंत्रण मांगती है' (वही, पृष्ठ-35)। दोहराने की आवश्यकता नहीं कि एक अच्छी कविता के लिए अनेक बातों के अलावा यह नियंत्रण भी एक अनिवार्य शर्त है। किन्तु एक अच्छे कवि को मलयाली कवि अय्यप्पा पणिक्कर की यह बात भी याद रखनी चाहिए कि 'हर अच्छी कविता, एक नई यात्रा की शुरुआत' होती है। उस यात्रा में न निराला, न मुक्तिबोध, न अज्ञेय काम आएंगे न ही 'कवियों के कवि' विलक्षण सौंदर्योपासक शमशेर की वे सीखें; जो उन्होंने 'कवि कर्म : प्रतिभा और अभिव्यक्ति' शीर्षक लेख (वही, पृष्ठ-37) में नए कवियों को दी हैं। एक अच्छी कविता की यात्रा तो कवि को स्वयं राह बनाते हुए तय करनी होती है।

कविता के बारे में उपरोक्त वैचारिक स्फुलिंगों के साथ-साथ विपाशा के कविता अंक से गुजरते हुए समकालीन कविता की अनेक प्रवृत्तियों से भी मुलाकात होती है। केदारनाथ सिंह और विजेंद्र जैसे वरिष्ठ कवियों के अंग-संग पवन करण और

शिरीषकुमार मौर्य जैसे नए कवियों को पढ़ना उस समय एक खोज भी बन जाता है, जब केदार जी यह कहते हैं कि 'इन दिनों जो युवा कविता लिखी जा रही है, उनमें एक विलक्षण प्रौढ़ता दिखाई देती है' (वही, केदारनाथ सिंह से बातचीत, पृष्ठ-61)। उनकी इस बात का सच हमें पवन करण की कविता 'मौसेरी बहनें', शिरीष की 'एक जुलाई' में तो मिलता ही है, प्रदीप सैनी की अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता भी अनायास चमत्कृत करती है। उनकी 'संवाद' शीर्षक कविता उस वर्ग के आपसी राग-द्वेषों को सामने लाती है जिनकी नियति की विडंबना समान है : 'मैं शायद पहले चबा लिया जाऊं/तुम ही निगले जाओ पहले/मत भूलो/अलग-अलग डिब्बों में होने के बावजूद हम एक ही टिफिन करियर में बंद हैं'। हिमाचल के इस युवा कवि को पढ़ते हुए निकटवर्ती पंजाब के महान कवि अवतारसिंह संधू पाश की कविता 'पुलिस के सिपाही से' का स्मरण हो आता है : 'सिपाही बता, मैं तुम्हें भी इतना ख़तरनाक लगता हूं?.../गर नहीं साझी तो बस अपनी यह वर्दी ही नहीं साझी/ लेकिन तुम्हारे परिवार के दुःख/ आज भी मेरे साथ साझे हैं...'। प्रदीप की प्रेम कविताओं के विषय में लिखी गई 'प्रेम' शीर्षक कविता उल्लेखनीय है।

विपाशा के संपादक तुलसी रमण की यह चिंता कि मानवीय संबंधों की ऊष्मा, प्रकृति की जीवंत उपस्थिति, स्थानीयता की गमक और गहन सामाजिक बोध के बावजूद 'कविता पाठक तक नहीं पहुंच पा रही है, या वहां पहुंचकर भी उसके भीतर फीड नहीं हो पा रही है, पाठक के भीतर छिपे कवि को नहीं जगा पा रही है' (विशेषांक का संपादकीय) का निराकरण भी अंक में प्रकाशित केदारनाथ सिंह कदाचित नए संदर्भ में करते हैं। वह कहते हैं कि जबसे हमने टैक्सूट (पाठ) की सत्ता पर जोर देना शुरू किया उसी दिन से लोक की ओर खुलने वाले दरवाजे बंद हो गए। वह कविता के लिए एक ऐसा ढांचा तलाशने पर बल देते हैं, जिसमें आने वाले समय को कुछ जोड़-घटा लेने की छूट रहे। यानी एक ऐसी कविता जो बहुस्तरीय, बहुसंवादी हो, आज की कविता की तरह एकालापी न हो। उसमें सिर्फ कवि ही अपने सत्य प्रतिपादित न करता रहे।

मुझे लगता है कि ऐसी कविता में कुछ पात्रों की भी गुंजाइश बनेगी, जो शायद कथा साहित्य की तरह कविता में भी अपना सत्य प्रस्तुत कर सकेंगे। लेकिन वह बेसुरी 'गद्य कविता' नहीं होगी। वेद व्यास, कालिदास आदि संस्कृत कवियों ने तो इस प्रविधि का इस्तेमाल किया ही था। वाल्मीकि को पुनर्सृजित करने वाले कथा-वाचक तुलसी दास इस कारण भी लोकप्रिय रहे कि मानस में अनेक पात्रों की उपस्थिति है। यह श्रोता-पाठक को बहुस्वरीय यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते लगते

हैं। ऐसा काव्य श्रोता को पाठ में रमने की छूट देता है। जबकि उनके समकालीन कबीर में ऐसा नहीं है। जायसी में है, सूरदास में भी है; लेकिन रैदास, रहीम आदि में नहीं है। भक्तिकाल से ही इस प्रविधि का प्रयोग धीरे-धीरे शिथिल पड़ता गया। रीति काल में बिहारी, देव, घनानंद आदि सभी सूक्तियों में कविताई करने लगे।

यह सोचने के लिए भी कुछ कारण तो मौजूद हैं ही कि समाज के निचले तबके से आए क्रांतिकारी कवियों, कबीर, रैदास ने इस प्रविधि को अपनाया होता, अपने नायकों को सृजित किया होता तो वे ज्यादा प्रभावी होते। वैसे, जैसा कि केदार जी कहते हैं कबीर के पाठ में भी आने वाली पीढ़ियों के लिए कुछ जोड़ने-घटाने की छूट थी। यह छूट वाचिक परंपरा की देन रही है। छापे में कैद कविता के लिए यह मोहलत तो दिवा-स्वप्न ही है। आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त ने यशोधरा (1933), जयशंकर प्रसाद ने कामायनी (1939) जैसे प्रयोग किए, तो उन्हें छापे की कैद और वाचिक परंपरा के अभाव में भी किंचित लोकप्रियता तो हासिल हुई ही। यह सिर्फ गेयता का ही प्रभाव नहीं था। गहन दार्शनिक तत्त्वों वाले इन कठिन काव्यों की लोकप्रियता को बच्चन की लोकरंजक तत्त्वों वाली एकालापी मधुशाला (1935) की लोकप्रियता के साथ रखकर नहीं देखा जा सकता। बहरहाल, कविता के ढांचे में बुनियादी परिवर्तन ही भविष्य की कविता को उस वृहत्तर खुलेपन की ओर ले जा सकता है, जो निश्चित रूप से अतीत की वापसी तो नहीं ही होगी। यही हमारे समय के मननशील कवि केदारनाथ सिंह का अभीष्ट है।

विपाशा के विशेषांक में प्रकाशित कविताओं से गुजरते हुए अनेक खिड़कियां विभिन्न जरूरी दृश्यों की ओर खुलती हैं। वे दृश्य सरस भी हों यह जरूरी नहीं, जैसा कि लीलाधर जगूड़ी कहते हैं : 'असली होना कितना नीरस हो जाना होता है' (रोजाना बदलता है कुछ)। नरेश सक्सेना की कविता 'दाग-धब्बे' शुचितावादी आग्रहों का निषेध करती है जबकि 'ईश्वर' शीर्षक कविता इस दुनिया को चलाने वाली किसी पराशक्ति संबंधी अवधारणाओं के छद्मों को उजागर करती है।

मंगलेश डबराल 'बेरोजगार' कविता में हमारे समय की सबसे बड़ी पीड़ा को उकेरने के साथ उन खाइयों की ओर भी इशारा करते हैं जो आम और खास के बीच चौड़ी होती जा रही है।

राजेश जोशी जब यह वक्रोक्ति करते हैं कि 'कविता के बारे में राजेंद्र यादव की बात तो/बिल्कुल मत सुनो!' (एक कवि कहता है) तो वह प्रकारांतर से कविता के हाशियाकरण की उसी चिंता से दो-चार हो रहे होते हैं जो विपाशा के संपादक कवि तुलसी रमण और केदारनाथ सिंह की भी फिक्र है।

नामालूम से विषयों को आधार बना कर कविताई करने वाले वीरेन डंगवाल की 'सायकिल के बहाने कुछ स्मरण और एक पछतावा' अतीत के साइकिल सवारों का चित्र बनाते हुए उस समय एक बड़े आख्यान में प्रवेश कर जाती है, जब कवि नव स्वतंत्र भारत में पैर पसार रहे सत्तालोलुप दलालों के बनने की प्रक्रिया का विश्लेषण करने लगता है : 'जवाहर लाल सामान्यतः साधारण जन के ख़ुदा और बादशाह थे/ज़्यादातर राजे-रजवाड़े ज़मींदार उद्योगपति सिविल सर्वेंट्स और दूरदर्शी चापलूस भी/खद्दर पहनकर उनकी दो बैलों की जोड़ी के पीछे खड़े थे'। इसी तरह पंकज सिंह बताते हैं कि पुरानी तस्वीरों में दिखने वाले सामंतों का अंत नहीं हो गया उन्होंने सिर्फ रूप बदल लिया है : 'अब सत्ता वाले महीन कताई की कला जान चुके हैं' (दरकार नहीं)।

गगन गिल की कविताएं उनमें बसी निर्मल वर्मा की यादों के कारण ध्यान खींचती हैं। हिमाचल के कवियों में जहां अनूप सेठी की दो कविताएं 'बेसुध औरत' और 'बेसुध औरत का आदमी' मर्मस्पर्शी हैं, वहीं कृष्णकुमार वैद्य की 'चांद पर बसेरा' और तुलसीदास से संबंधित कविता में प्रगतिशीलता के तत्त्व आश्चर्यजनक रूप से सुखद हैं।

कुलराजीव पंत की भाषा की नजाकत भी रेखांकित किए जाने लायक है। यद्यपि मोहन साहिल 'बर्फ' और 'बर्फ गिरने के बाद' में हिमाचल के ऊपरी इलाकों की (हिमाचल के कवियों द्वारा अनेक बार कही जा चुकी) भौगोलिक-प्राकृतिक त्रासदियों को ही दोहराते हैं; पर स्त्रियों की व्यथा का संदर्भ उन्हें थोड़ा अलग करता है।

हिमाचल के इन कवियों अतिरिक्त विशेषांक में दो और कवि एकदम विरोधाभासी कारणों से ध्यान खींचते हैं।

मिथिलेश श्रीवास्तव की कविता 'हैरानी की बात' व्यवस्था परिवर्तन के लिए किसी भी हद तक जाने की आवश्यकता प्रभावशाली ढंग से बताती है 'आतंक मचाने की हमारी हार्दिक तमन्ना क्या बाजिब नहीं है?' (हैरानी की बात) जबकि महाराजकृष्ण संतोषी की छोटी-छोटी स्वीकारोक्तियां अतिशय क्रांतिकारिता का निषेध करते हुए छोटे-छोटे सुखों में जीवन की सार्थकता की तलाश करती हैं : 'प्रार्थना से अधिक सुखकर है अपनी मनपसंद चाय पीना।'

यह भिन्नता सिर्फ दो कवि दृष्टियों की नहीं है। यह हिन्दी के उदात्त चरित्र की विशेषता भी है, जो अनेक विचार सारणियों को अपने आंचल में आश्रय देती है। सुखद यह भी है कि इनमें से अनेक की झलक विपाशा के कविता विशेषांक से मिल जाती है।

(विपाशा, अप्रैल, 2008)

भूमंडलीकरण के मेले में पहाड़

अनूप सेठी की कविताओं में पहाड़ स्वाभाविक रूप से अंतर्गुंफित है। पहाड़ उनकी चेतना का ऐसा हिस्सा हैं, जो उन्हें क्रूर महानगर से भिड़ते हुए अपनी संवेदना बचाए रखने का हौसला देते हैं। वह इसे लेकर नॉस्टैलिजिक नहीं हैं। उनके पहले कविता संग्रह 'जगत में मेला' की पहली ही कविता है : ''धौलाधर! तुझे मैं छोड़ आया हूं/यह सोच नहीं पाता/संस्कारी मन सी धवलधार सड़क/काली कलूटी/तू विचारना मत ज्यादा/मेरे तेरे बीच कुछ सैकड़ मील पटड़ियां उग आई हैं/फिर भी हम घूमेंगे सागर तट साथ-साथ.....''। यहां वह पहाड़ के मोहपाश में कैद नहीं होते, बल्कि उससे शक्ति संचित कर सागर तट पर 'साथ-साथ' घूमने के इच्छुक हैं। यह 'साथ-साथ' प्रकारांतर से 'कवि और पहाड़' के अतिरिक्त सागर तट (पर बसे महानगर) और धौलाधार का 'साथ-साथ' होना भी है।

कविताओं के किंचित अमूर्त संसार से हटकर देखें तो धौलाधार और अनूप के बीच उग आईं 'कुछ सैकड़ा मील पटड़ियां' मुंबई से कालका तक की हैं। यहां यह जान लेना आवश्यक होगा कि अनूप सेठी हिमाचल प्रदेश के हमीरपुर जिले के रहने वाले हैं, जबकि उनकी कर्मस्थली और इन कविताओं की सृजन स्थली मुंबई है। उनकी इन 'पटड़ियों' के रास्ते में पंजाब भी आता है। इसलिए 1984 की भयंकर त्रासदी के बाद, कभी सुखद स्मृतियों में वापस ले जाने वाली वे पटड़ियां उनके लिए महज एक रास्ता नहीं रह जातीं; वरन एक ऐसा झरोखा बन जाती हैं, जिसके माध्यम से इस देश की एकसूत्रता, अन्योन्याश्रित संबंधों, अन्योन्य राजनीतिक प्रभावों को महसूस किया जा सकता है।

पंजाबी नाटककार आतमजीत को संबोधित उनकी कविता 'आतमजीत के लिए' की उदासी के माध्यम से इसे और बेहतर ढंग से समझा जा सकता है : ''तीन साल हो गए वो रात भूलती नहीं कभी/तुम मेरे पास आए थे और मैंने

दोस्त/पंजाब का हाल पूछा था/..../उस दिन जवाब में तुमने कहा/बंबई आते हुए रास्ते में ऐसा ही लगा/चौरासी के दंगे हो चुके थे और तुम जैसे इंडिया आ रहे थे/.../तुम्हें लगा था इंडिया आए थे/मेरे घर का रास्ता भी वही है/मैं कहां जाऊंगा...''।

उनके इस विवेच्य कविता संग्रह 'जगत में मेला' की कविताओं में रास्तों का अपना पूरा एक समाजशास्त्र है। मुंबई में यह रास्ता 'लोकल (ट्रेन) की भीड़ में भरमा जाने पर' पहाड़ में निर्मित 'जनैटिक्स' के कूट खोलने लगता है ('जनैटिक्स') तो 'बांबी' शीर्षक कविता में महानगर को अपना सर्वस्व अर्पित कर नींद लेते 'नल की टूटी हुई टूटी जैसे मुख' वाले युवक की पीड़ा घनीभूत होकर उतरती है। दो अलग-अलग स्थितियों को चिन्हित करने वाली इन कविताओं में 'भूमंडलीकृत समय' समान रूप से उपस्थित है।

'जनैटिक्स' में 'भुट्टे, सोने की चांद जैसी खाई गई रोटियां' और 'गोबर से लीपे फर्श की खुशबू' इस कुसमय को पार करते हुए जिजीविषा को बचाए रखने का माध्यम बनते हैं। जबकि 'बांबी' में इन नियामतों से वंचित 'बीयर से व्हिसकी से रम से प्रक्षालन' को मजबूर लोकल में सफर करता 'सूरवीर'; नींद में लुढ़क-लुढ़क जाता योद्धा जिसकी 'अधेड़ सी दिखती नौजवान औरत/पत्थर पर डोसे का आटा पीस रही है' - की नियति 'झड़ चुकी जवानी असमय घिरा बुढ़ापा/निश्चित मृत्यु' बनती है। इसी तरह, पहाड़ी कस्बों के रास्तों से युवकों का बसों में बैठकर ओझल हो जाना पलायन की पीड़ा को दर्शाता है : ''कुछ कई कुछ बनते कुछ नहीं रहेंगे/कुछ बसों में बैठकर मोड़ों से ओझल हो जाएंगे/न भूलेंगे न लौट पाएंगे...'' (अशांत भी नहीं है कस्बा)।

पहाड़ को न भूलना, न लौट पाना कवि मन की भी व्यथा है। 'पहाड़ पर धूप' में अनूप गांव में खिली धूप के गुनगुने स्पर्श को महानगर में भी महसूस करते हैं : ''सीढ़ियां चढ़ के आती हुई सी धूप/दोपहर शायद इन दिनों भी अच्छी होगी वहां/.../धूप कहे यह मेरी तुम्हारी अपनी झिंझोटी है/शहर में खुले आम हांक लगाओगे डूब जाएगी...''।

जैसा कि मैंने आरम्भ में ही कहा पहाड़ी अंचल के किसी भी कवि की तरह 'पहाड़' का अनूप सेठी की चेतना के एक व्यापक हिस्से पर अधिपत्य है, लेकिन वह इसे लेकर कूपमंडूकता की स्थिति में भी नहीं रहते।

कहने की आवश्यकता नहीं कि पहाड़ को लेकर व्यक्त किए जाने वाले निर्मलवादी भाव से भी वह काफी दूर हैं। और इस दृष्टि से हिमाचल प्रदेश से

पहले कवि हैं, जिन्हें हिंदी समाज को 'पहाड़ का कवि' के रूप में परखना चाहिए। 'कहां हो पहाड़ में' नास्टैलिजिक भावों को चकनाचूर करते वह कहते हैं : ''पानी भी तो रहा नहीं/न वो हुलस न वो आस/.../हर उत्तर में खड़ा होता था भरोसे का आकाश/तुम्हारे कांधों पर, पहाड़/कितना ऊंचा और पास/गल गया गर्भनाल/नदी निकल आई दूसरी दुनिया में/तू जड़ खड़ा रहा/हो गया निर्विकार...''।

अनूप पहले अपने विषयों को गहनता से आसत्मसात करते हैं फिर उसे परिदृश्य से बाहर आकर समग्रता से देखते हैं। यह प्रवृत्ति उन्हें कई बार समय और ब्रह्मांड से परे भी ले जाती है, जहां से वह पृथ्वी, उस पर गुजरते वर्तमान को संपूर्णता में देखना चाहते हैं। 'हर किसी का अपना हो अंतरिक्ष' में तो वह इसे साफ-साफ व्यक्त भी करते हैं : ''एक अंतरिक्ष है/सब उसमें हैं/बना लें अगर हम भी अपना एक अंतरिक्ष/सब हममें हो जाएं/शुरू हों समय से पहले/फैल जाएं समय से परे....''।

'संग दिलों ने मार दिया कल एक योगी' में भी इसी प्रवृत्ति की झलक है : ''पीपल की छांह में बैठा जोगी/तीन मन अंतर ब्रह्मांड विस्तार/पीपल के चार चपेरे जातरा का लोभी जग आया/खेल खिलंदड़/अंगड़-बंगड़/बोले खोल फेंक दे/तन-मन अंतर भरा कबाड़/नदी थमे क्यों तेरे पास पहाड़ झुकें क्यों बतलाओ/चलो-चलो जी रमते जोगी/नहीं रुकेगा कुदरत का खेल...''। कवि यहां एक जोगी की नजर से पृथ्वी के कार्य-व्यापार को देखता है, लेकिन यह जोगी निर्विकार-निस्पृह, आध्यात्मिक प्राणी मात्र न होकर भौतिकता और राग से परिपूर्ण है। कविता के अंत में वह संग दिलों द्वारा छला जाकर मारा जाता है। सूफी-जीवन शैली में प्रयुक्त अनेक निरर्थक शब्द (मसलन, अंगड़-बंगड़, अंधड़-छित्तर, कान-कुप्पा, चुप्पा आदि) यहां अपने अर्थ खोलते हैं। बावजूद इसके, संपूर्णता में कविता के सामान्य अर्थग्रहण में कठिनाई आती है। इसमें हर पाठक के अपने-अपने पाठ की गुंजाइश है।

'अबोली है रात निर्वात' शीर्षक कविता की भी यही स्थिति है।

'भूमंडलीकरण' शीर्षक कविता में भूमंडलीकरण की क्रूरताओं को देखने के लिए कवि 'परिदृश्य' से बाहर निकलता है। वह पाता है कि ''अंतरिक्ष से घूर रहे हैं उपग्रह/अदृश्य किरणें गोद रही हैं धरती का माथा/झुरझुरी से अपने में सिकुड़ रही है/धरती की काया/घूम रही है गोल-गोल बहुत तेज ('भूमंडलीकरण')''। यह कविता एक ऐसा खौफनाक बिंब सृजित करती है, जो यथार्थ को एकटक देखने से बनता है। पृथ्वी से दूर कहीं खड़ा कवि देखता है कि : ''इंसान पशु पक्षी/हवा पानी हरियाली को/सूखने डाल दिया गया है/खाल खींचकर/मैदान पहाड़

गड्ढे/तमाम चमारवाड़ा बने पड़े हैं/फिर भी सूकून से चल रहा है/दुनिया का कारोबार (वही)''।

लेकिन यहीं कवि की अपनी उच्चवर्गीय सामाजिक-पृष्ठभूमि और उससे जन्मी वैचारिक लोकेशन भी खुल जाती है। कविता में 'चमारबाड़ा' शब्द का नकारात्मक अर्थों में प्रयोग है। 'चमार' इस देश की एक प्रमुख जाति है। उनके बाड़े (घर) क्रूरताओं के अड्डे नहीं हैं, बल्कि यह सदियों तक क्रूरता झेलने को अभिशप्त कौम रही है, जो अब संघर्ष कर अपने मानवोचित अधिकारों की मांग कर रही है।

इतना ही नहीं, इस कौम का नजरिया 'भूमंडलीकरण', 'बाजार' आदि को लेकर वही नहीं है, जो कवि के समाज का है। इस कौम के लोगों को 'बाजार' और भूमंडलीकरण ने लाभ पहुंचाया है; उनके श्रम और उत्पादों को रुपए में बदला है। रुपए ने उन्हें सामाजिक-समानता की बात करने का हौसला दिया है। उनके मानवाधिकार के सवालों को 'भूमंडलीकरण' ने विश्वव्यापी बनाया है।

बहरहाल, संग्रह की कविताएं पलायन के लिए विवश उच्च व मध्य जातियों के निम्न व मध्यम वर्ग की पीड़ाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिसकी अपनी सार्थकता है।

संग्रह में प्रेम की छवियां भी कई जगह उभरती हैं। हालांकि, प्रेम कविताएं एक ही शीर्षक के अंतर्गत सिर्फ दो हैं। उनका शीर्षक ही है 'प्रेम कविता'। संग्रह की कविताओं में बार-बार सिर उठाने वाले मेट्रोपॉलिटन शहर के तनावों, समय-जगह की कमी को रेखांकित करती इस कविता के पहले भाग में उदासी और राग का मार्मिक सम्मिश्रण है : ''ड्यूटियां बहुत बजा लीं/गृहस्थी और तुनक मिजाजी चलती रहेगी/मौसम की तरह आओ बैठो/दोस्ती के दिनों की तरह/जरा देर और/फिर एक-एक कप चाय के साथ और/फिर किताबों की बात/फिर कविता का साथ/भरी बरसात! पानी से ऊब चूब बादल/अब बरसे तब बरसे/भिगो जाएं धरती आकाश।'' दांपत्य जीवन के तनावों के बीच अव्यक्त रह जाने वाली प्रेमातुरता को व्यक्त करती यह एक अद्भुत कविता है। दांपत्य पर इतनी रागपूर्ण अभिव्यक्ति (संभवतः) सिर्फ सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के पास ही रही है। उनकी 'तुम्हारे लिए' तो यहां अनायास याद आती है : ''कांच की बंद खिड़कियों के पीछे/तुम बैठी हो घुटनों में मुंह छिपाए/क्या हुआ यदि हमारे-तुम्हारे बीच/एक भी शब्द नहीं/मुझे जो कहना है कह जाऊंगा/यहां इसी तरह अदेखा खड़ा हुआ,/मेरा होना मात्र एक गंध की तरह/तुम्हारे भीतर बाहर भर जाएगा...।''

महानगर की भागती-हांफती जीवन शैली से उपजी बेचैनियां संग्रह की कई

कविताओं में मुखर हुई हैं। (वैसे तो, महानगर के संत्रास और जीवन प्रदान करने वाला पहाड़ा रस, समुद्र तल के नीचे चलने वाली लहरों की तरह पूरे संग्रह में मौजूद है) रचनात्मकता को बचाए रखने के लिए 'फुरसत की तलाश' कवि की एक ऐसी आकांक्षा है, जो मुंबई जैसे शहर में दिवास्वप्न बन जाती है। 'इतवार की कविता' में यही चिर आकांक्षा अभिव्यक्ति पाती है : ''आओ इतवार मनाएं/देर से उठें/चाय पीएं/और चाय पीएं/अखबार को सिर्फ उलट पलट लें/.../सारे सपनों की धूल झाड़ें/बिस्तर के इर्द-गिर्द बिछा लें/इतवार की शाम/आंखों में आंखें डाल के खो जाएं/एक इतवार तो हो/अपने से बाहर निकल/अपने में खो जाएं...।'' भागमभाग से मोहलत की यह कामना 'ठाले की तपस्या', 'कमरे की लोरी', 'संवाद', 'रिश्तेदार शहर में' और 'बंबई दर्शन' में भी अलग रूपों में है। 'ठसाठस' शीर्षक में तो कवि बताता है कि न यहां 'बुक्का फाड़कर रोने भर की जगह' है, न ही 'मगन होने हगने तक की मोहलत'! 'तुम भी यहीं हो कहीं शायद' में वह प्रकृति, संगीत और कविता से संवाद स्थापित करने के लिए छुट्टी की चाह करता है : ''मुझे छुट्टी दे दो आज/आसमान से संवाद कर लूं/आविदा परवीन को सुन लूं/धुंध के रेशों से सवा दो अक्षर की कहानी बुन लूं/विजय कुमार की कविताएं पढ़ लूं...।'' 'जगत में मेला' का फ्लैप भी आलोचक-कवि विजय कुमार ने ही लिखा है। संग्रह के बारे में उनका आलोचकीय आकलन भी यही है कि ''इन कविताओं में एक ओर पीछे छूट गया पहाड़ी अंचल है, जिसका एक लोक जीवन है, पर जहां स्मृतियों में लौटना किसी दिलासा या संरचना की तरह नहीं है... दूसरी ओर वह महानगरीय परिवेश है, जो (कवि को) अपनी तमाम बेतरतीबी में घेरता है।''

संग्रह में 'कंबल', 'मैं अमृतसर आना चाहता हूं' और 'दोस्त' जैसी सांप्रदायिकता की पीड़ा को संवेदनशीलता से उद्‌घाटित करती कविताएं हैं, तो 'हजामत', 'बीमार', 'रोज जैसी सुबह रोज जैसी शाम', 'हमारे शहर की स्त्रियां', 'दर्जिन', 'मनीऑर्डर', जैसी विभिन्न भाव-बोधों पर लिखी गई कविताएं भी हैं, जिन्हें संगमरमरी शिल्प, शब्दों की मितव्ययिता और अभिव्यंजना की मौलिकता के कारण रेखांकित किया जाना चाहिए। 'भूमंडलीकरण' शीर्षक के अतिरिक्त 'हाशिए पर दुनिया', 'कोई उठा ले पृथ्वी', 'विरासत' और 'मुंह में दांत' घर में भूचाल, जगत में मेला, संग्रह की ऐसी कविताएं हैं, जिनमें उच्च व मध्य वर्ग के लोगों पर वैश्वीकरण के पीड़ादायक दंशों को अभिव्यक्ति मिली है।

'मुंह में दांत...' तो कथात्मकता से संपन्न एक विलक्षण कविता है। अनूप की यह कविता भारतीय काव्य परंपरा के उन शुरुआती दिनों की भी याद दिलाती

है, जब गेय नाटिकाएं प्रचलन में थीं। आधा दर्जन बच्चों वाले एक निम्न-मध्य वर्गीय मुसलमान परिवार की यह कथा नगाड़े की थाप से उपजे नाद, डुगडुगी की अनवरत और उथल-पुथल मचा देने वाली आवाज के ओज में स्नात है। 'बीसवीं सदी के आखिरी सालों में' इस परिवार का बड़ा पुत्र 'जगमगाती ताजगी लिए टूथपेस्ट' ले आता है। यह छोटा-सा टूथपेस्ट ही घर में 'भूचाल' आने का निमित्त बनता है। पिता समेत परिवार के सदस्यों की व्यथाएं प्याज के छिलकों की तरह नंगी होती चली जाती हैं। परिवार के सदस्यों को अपने दांत 'सूप की तरह फैले, खुले-खुले' होने की याद आती है और बारी नए दांत लगवाने तक की आ जाती है। इसी बीच छोटी बेटी और छोटे बेटे के संवाद की मार्मिकता धमाके की तरह फूटकर, पाठक को सन्न कर जाती है : ''भूचाल के दूसरे झटके की तरह छोटा बोला/रोटी नी खाई जाती एक/लगवाने चली है अब्बा के दांत/कवच में ढकी थी बोल गई छोटी/खाई क्यों नी जाती/पूछ देती है क्या अम्मी/एक भी कौर एक रोटी के बाद/धरती डोल गई। मां रोए जाती थी बेआवाज़...।'' कविता के अंत में पूरा परिवार 'मेले' में जा पहुंचता है, दांत और आंत खरीदने। यह बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा प्रायोजित वही मेला है, जो भारतीय समाज में उथल-पुथल मचाता बढ़ा चला जा रहा है। उम्मीद है कि अनूप अपने आगामी संग्रहों में इसके विभिन्न प्रभावों को उसकी जटिलता समेत अभिव्यक्त करने में सक्षम होंगे।

भाई वाह! अच्छा तमाशा है

कवि अरुण आदित्य ने (दैनिक भास्कर के चंडीगढ़ संस्करण में) हिमाचल प्रदेश के रचना-परिदृश्य के बारे में टिप्पणी करते हुए चर्चा आरंभ की है। उन्होंने अपने लेख का खूबसूरत शीर्षक दिया है 'पहाड़ पर लालटेन'। 'लालटेन', हम साहित्यिक अल्पसंख्यकों का बेहतर रूपक है। अल्पसंख्यक तो हम हमेशा से ही रहे हैं। एक तरह से अल्प संख्या हमें और बेशकीमती बनाती रही है।

बहरहाल, चर्चा हिंदी पट्टी के इस भौगोलिक भूखंड हिमाचल प्रदेश में रचनारत साहित्यकारों और उनके लिखे की है। सचमुच यहां इस परिदृश्य पर अंधेरा है, जिसमें जुगनुओं की तरह कुछ नाम चमकते हैं। साहित्य-समाज का यह नैतिक दायित्व है कि वह लालटेन की कोटरों में दबी भुकभुकाती लौ को पहचाने, उसे तेज करे। यह दायित्व तब और बढ़ जाता है, जब 54 प्रतिशत युवाओं के इस देश में हम अल्पसंख्यकों का कारवां आगे बढ़ता नहीं दिखता। हिमाचल के परिप्रेक्ष्य में प्रथम कोटि के लेखकों के उदाहरण (यशपाल के 'झूठा सच' सरीखे उपन्यास और गुलेरी जी की एक कहानी को छोड़ दें तो) इतने कम होने के कारण क्या हो सकते हैं? 20वीं शताब्दी के आरंभ में जब पूरी हिंदी पट्टी में उपनिवेश-विरोधी लहर के बीच हिंदी भाषा विकसित हो रही थी; जब 'सरस्वती' के माध्यम से महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी को 'जटिल और संश्लिष्ट' भावों को वहन करने में समर्थ भाषा के रूप में विकसित करने का प्रयास कर रहे थे, यह भूखंड (एक नवंबर, 1966 को एकीकृत होने से पूर्व का हिमाचल) अपनी रियासतों में ही पस्त-मस्त था शायद यह उस ऊर्जा को अवशोषित न कर सका, जिसे खड़ी बोली के लेखकों ने राष्ट्रीय आंदोलनों से आत्मसात किया था। इसके अतिरिक्त यहां लेखन की धार कुंद रह जाने का मुख्य कारण है—वाम और दलित आंदोलनों की अनुपस्थिति। इन आंदोलनों का ही ताप हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में बहता रहा है।

इस अनुपस्थिति के कारण यहां के समाज की बुनावट के अतिरिक्त कृत्रिम

राजनीतिक समीकरणों में भी रहे होंगे। इन कारणों से यहां के साहित्य में भी प्रतिरोध की दृष्टि प्रखर नहीं है। ज्यों सारे हाथ सहमति में झुके हों असहमति में पूरी शक्ति से उठा हाथ यहां कहां दिखता है?

इन, 'ऐतिहासिक' कारणों के बाद भी यह सवाल रह जाता है कि क्या रचनाकार अपने समय, कालगत कुछ निष्पत्तियों का बाई-प्रोडक्ट भर होता है? जितना सच है कि देश-काल हर व्यक्ति की तरह लेखक को गढ़ने में भी निर्णायक भूमिका निभाता है, उतना ही सच यह भी है कि बड़ा कहे जाने वाले समर्थ लेखक की प्रतिभा उसकी व्यक्तिगत संभावनाओं का ही विस्फोट होती है। लेखकीय प्रतिभा का बड़ा हिस्सा अभ्यास और स्वयं के उदात्तीकरण से अर्जित होता है। वास्तव में 'लेखन' का निर्णय ही अपनी मूल प्रकृति में उपर्युक्त 'निर्णायक' का अतिक्रमण करने का फैसला भी होता है। यहां लेखन को अपना मूल सरोकार बनाने की आवश्यकता भी समझनी चाहिए।

यह माना जाता है कि साहित्य या कोई भी कला जड़ता से असहमति के कारण ही संभव होती है। अपने समय से अस्वीकृति की तीव्रता कला के स्केल पर जितनी ऊपर होगी, रचना उतनी ही श्रेष्ठ और कालजयी होगी। यहां असहमति के तर्कों को समझने के साथ यह भी ध्यान देना होगा कि साहित्य में कलात्मकता महज भाषा की तराश से नहीं, अपने समय की गहन समझ से आती है। ध्यान दें (हमारे कवि) कि रचना के अनुरूप भाषा की संवेदना अर्जित करने और उसकी 'बोन्साई-सी' तराश करने में बड़ा फर्क है।

शिमला का माल रोड हिमाचल की सांस्कृतिक गुलामी का प्रतीक है। मुक्तिबोध की कविताओं में कौंधने वाली 'मृत्युदल की शोभा-यात्रा', विचित्र प्रोशैसन यहां हर शाम देखा जा सकता है; किंतु निराला का 'भिक्षुक' वहां नहीं जा सकता। एक गैर हिमाचली कवि की कविता 'माल रोड से' का अंश देखिए—'माल रोड के चक्कर काटती हैं/भिश्तियों की आत्माएं/जो अपने हाथों से बनाते थे/सीमेंट की खुरदरी सड़क को/शीशे की तरह चमकदार/उनके लिए नहीं जानी जाती कभी माल रोड/उतना ही पुराना है/इस सड़क का इतिहास/जितना हमारा दास होना...' विपाशा के नए अंक 104 में छपी इस कविता को बेहतर कहे जा सकने का कारण कथ्य के अनुरूप भाषा की संवेदना और कवि की तीखी समझ है। लेकिन हमारे रचनाकारों के लिए तो माल गरिमामयी सड़क है! मानो वे परंपरा को ढोने के लिए अभिशप्त हों।

क्या यह भी एक कारण नहीं है कि अपने जन्मजात स्वभाव में ही रूढ़ि-भंजक रही हिंदी भाषा और उसका साहित्य आपकी विरूदावलियों की उपेक्षा करता है?

हालांकि, 'हिमाचली साहित्य' की तरह ही 'साहित्य के राष्ट्रीय स्तर' जैसी शब्दावली पर भी पारिभाषिक दृष्टि से मुझे आपत्ति है। किंतु जहां तक 'राष्ट्रीय स्तर पर झंडा बुलंद' करने की बात है तो जांचना होगा कि हमारे हिमाचल के साहित्यकार देश के स्पंदन को कितना आत्मसात करते हैं?

वर्ष 2002 के गुजरात दंगों ने हिंदी जनपद की साहित्यिक बिरादरी को झकझोर कर रख दिया। क्या उसकी कोई अनुगूंज भी 'हिमाचली साहित्य' में आई? 'हिमप्रस्थ', 'विपाशा', 'सर्जक' में कहीं कुछ छपा! हमारे कलमकारों को इतनी बड़ी त्रासदी-गुजरात की चीखें नहीं सुनाई दीं। इस तरह हम कैसे राष्ट्रीय स्तर पर स्थान, सम्मान की मांग कर सकते हैं?

बहरहाल, भुकभुकाती लालटेनों के इस निराशाजनक परिदृश्य पर कुमार अंबुज की छोटी-सी कविता का 'आनंद' लीजिए :-

'कहिए, कुछ भी कहिए, आपके पास तो भाषा है
मदारी से कहिए कि भाई वाह! अच्छा तमाशा है
भूखे मरिए, लेकिन बताइए मुंह में घुल रहा बताशा है
इधर आगजनी, हत्या फिर हताशा है
आप तो अपनी जान बचाइए, मत कहिए ये कुहासा है
दिनचर्या में निष्क्रियता रखिए
कहानी में, कविता में (लेख में!) लिखिए–
आशा है, आशा है...।'

(18 फरवरी, 2004, दैनिक भास्कर)

सूत न कपास, जुलाहों में लट्ठम-लट्ठ

प्रिय निरंजन भाई,

आपने अपनी पत्रिका 'अस्किनी' के प्रवेशांक के लिए 'संगठनों एवं आंदोलनों का रचनात्मकता पर प्रभाव' विषय पर परिचर्चा के लिए प्रश्न भेजे हैं। उन प्रश्नों पर चर्चा से पहले हिंदी के वर्तमान रचना-परिदृश्य पर कुछ बातें कर ली जाएं, तो बेहतर होगा।

कल पुस्तकालय गया था; वहां मिले कुछ गैर जरूरी आंकड़े याद रह गए हैं, उन्हें आपको बताना चाहता हूं। जिस पुस्तकालय में गया था, वहां 1994 में आए राजेन्द्र यादव द्वारा संपादित 'एक दुनिया समानांतर' को पढ़ने में पिछले 10-12 वर्षों में किसी की रुचि नहीं रही है। अरुण कमल के ख्यात संग्रह 'अपनी केवल धार' को भी पिछले बीस-बाईस वर्षों में किसी ने इश्यू नहीं करवाया था। जबकि अमर्त्य सेन की अनूदित किताब 'भारत विकास की दिशाएं' को पिछले 4-5 वर्षों में 40-50 लोगों ने पढ़ा है। किरण बेदी को भी पढ़ने वालों की संख्या संतोषजनक रही है।

राजेन्द्र जी द्वारा संपादित सो स्वभावतः 'चर्चित' कहानी संग्रह में रेणु, मोहन, राकेश, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, रघुवीर सहाय, शानी, अमरकांत, मार्कण्डेय, रमेश बक्षी, शेखर जोशी के साथ-साथ धर्मवीर भारती, शैलेश मटियानी, शिवप्रसाद सिंह, कृष्ण बलदेव वैद्य, प्रयाग शुक्ल तक की कहानियां हैं।

भाई निरंजन जी, 'पाठक' ने कम-से-कम शिमला में—इसके पन्ने उलटने की भी जरूरत नहीं समझी। राधाकृष्ण प्रकाशन की इस किताब के कई पन्ने कटिंग की भूल के कारण आज भी चिपके हैं। क्या अर्थ निकलता है? इस संग्रह में कई संगठनों और एजेंडों के कहानीकार हैं। हर तरह की कथित 'नारेबाजी' करने वालों को हंस संपादक ने जगह दी है। दक्षिणपंथियों को भी। इसी तरह, अरुण जी के धारदार कविता संग्रह को भी पाठक नहीं मिले। इसकी जगह अनेक कवियों का

प्रतिनिधि (खिचड़ी परोस!) संग्रह होता तो उसकी भी यही गति होती। जबकि अमर्त्य सेन और किरण बेदी को पाठकों की कमी नहीं है।

अमर्त्य दलित-पिछड़ों-वंचितों की बात करते हैं, जबकि किरण बेदी अध्यात्म के रंग-रोगन में डूबी रहती हैं। (उन्होंने जेल सुधार के नाम पर हिंदू धर्म प्रचार अभियान ही चलाया। व्यक्तिगत रूप से मैं उनके लेखन को तवज्जो नहीं देता।) लेकिन किरण बेदी के पाठक हैं, अमर्त्य सेन के भी हैं। दोनों अंग्रेजी में लिखते हैं, पर पाठक हिंदी अनुवाद के भी हैं। अरुंधति राय के हैं, महाश्वेता देवी के भी हैं। सोचें, इन सबमें क्या समानता है? हिंदी के कवियों, कहानीकारों के पास आखिर पाठक क्यों नहीं हैं? हमारे चिंतकों-आलोचकों की आम लोगों में कितनी पहचान है, यह भी आपसे छुपा न होगा।

हिंदी के ब्रांड अंबेसडर नामवर जी की हैसियत का एक उदाहरण बताता हूं। 'सहारा के प्रधान संपादक' नामवर सिंह के बारे में एक पत्रकार बंधु ने मुझसे पूछा कि 'वे भी कवि ही हैं न?' मैंने उन्हें बताया कि वे कवि नहीं हिंदी के बहुत बड़े आलोचक हैं। तो उन्होंने गुस्से से कहा—सभी मालिकान अंग्रेजीपरस्त हैं, अब देखिए हम हिंदी से रोजी-रोटी कमाते हैं, जबकि संपादक अंग्रेजी वाले बनते हैं। क्या वह खुलेआम हिंदी की आलोचना करते हैं?

महाश्वेता देवी जैसी एक्टिविस्ट लेखिका भी हमारे पास नहीं है। गदर जैसा कोई कवि भी हिंदी के भाग्य में नहीं। ...सुना है, पिछले दिनों आलोक धन्वा बिसलेरी की बोतल थामे साहित्य अकादमी का चक्कर लगाते पाए जा रहे थे। हिंदी में साहित्येत्तर अनुशासनों में ठोस काम करने वाले भी बहुत कम हैं। हालांकि, अभय कुमार दुबे व कुछ अन्य लोगों ने इस दिशा में गति आरंभ की है।

तो फिर ऐसे पाठकविहीन परिदृश्य में इतना लिखा क्यों जा रहा है? इसका उत्तर हिंदी प्रकाशनों के मालिक निर्मोही तरीके से दे सकते हैं। एक प्रकाशक तो मुझे कई बार सिलसिलेवार बता चुके हैं कि किस-किस समकालीन लेखक की 5-5 सौ प्रतियों के थोक खरीद में जाने में भी 8-10 साल लग जाते हैं। जबकि अखबारी धुरंधरों और अन्य जुगाड़-रसिकों की किताबें धड़ाधड़ थोक खरीद में जाती हैं। यानी नरक में भी ठेला-ठेली है। पाठकों तक पहुंचने की बजाय अपनी किताब किसी अंधेरे गोदाम में फेंकने की आपाधापी। तो बंधु, हिंदी के साहित्यिक जुलाहों की यह हालत है!

प्रचार-प्रसार के न होने का रोना भी अब समाप्त होना चाहिए। धर्मयुग, सारिका के बंद होने का स्यापा बहुत कर चुका। आज भी सहारा समय, इंडिया टुडे, आउटलुक,

कादम्बनी, अहा जिन्दगी जैसी बड़े प्रसार वाली हिन्दी पत्रिकाओं में साहित्य के लिए पर्याप्त जगह है।

साहित्यिक पत्रिकाओं का तो यह स्वर्ण युग ही है। इनमें छपी कहानी-कविताएं कितनी पढ़ी जाती हैं, इसका कोई आंकड़ा उपलब्ध नहीं है। लेकिन, यह तो तय है कि समीक्षाओं का पाठक पर असर नहीं होता (पुरस्कार चयन समितियों पर शायद होता है)। असर होता तो किताबें बिकतीं। बिकतीं तब भी, अगर कहानी-कविताएं पढ़ी जातीं। आखिर जो एक कहानी पढ़ेगा, वह किताब भी तो खरीदेगा। किताबों के महंगा होने के तर्क में भी ज्यादा दम नहीं है। विस्तार भय से यहां सिर्फ इतना बताऊं कि बिकने वाली हिंदी-अंग्रेजी किताबें बहुत सस्ती नहीं हैं। 'यह संभव है'—किरण बेदी, वाणी प्रकाशन; 395 रुपए और 'भारत विकास की दिशाएं'—अमर्त्य सेन, राजकमल प्रकाशन; 175 रुपए की हैं। पुस्तकालयों में इनके पाठकों के अतिरिक्त 'खरीददार' भी हैं। जबकि इसकी तुलना में दोगुने पृष्ठों वाली 'एक दुनिया समांतर'—राजेन्द्र यादव, राधाकृष्ण प्रकाशन की हार्डबाउंड कीमत 175 रुपए है। अरुण कमल की 'अपनी केवल धार' तो पेपर बैक में तो महज 35 रुपए की। सिनेमा के एक टिकट या 200 ग्राम आलू चिप्स की कीमत पर।

सास भी रानी, बहू भी रानी, कौन भरे कुएं से पानी!

मुझे लगता है, हमें साहित्यिक विधाओं की अवधारणा पर भी विचार करना चाहिए। कभी पुराण रचना को बहुत प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। महाकाव्य तो हाल-फिलहाल तक रचे जाते और अति महत्वपूर्ण ठहराए जाते रहे; लेकिन आज कोई जंगल में बैठ नया पुराण रचे, मनमोहन सिंह या ज्योति बसु पर महाकाव्य लिखे, तो उसे क्या कहेंगे? समय के साथ समाज की आवश्यकताएं बदलती हैं... विचार करने में हर्ज क्या है? बल्कि यह आवश्यक है। निष्कर्ष चाहे जो हों, हम सोचें तो सही कि आज की चुनौतियों के समक्ष अच्छी से अच्छी कहानी-कविता लिखना कितना 'सार्थक' काम है? इतना तो तय है कि 'और भी दुःख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा/राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा'। मुझे लगता है कथा-कविता आज की चुनौतियों का सामना करने में पिछड़ी साबित हो रही हैं। रचनात्मकता के लिए अब नए फार्म की तलाश की जानी चाहिए। इन विधाओं में 'भाषा के सौंदर्य' का इस कदर ढिंढोरा पीटा जाना भी अजीब लगता है।

अपने समय में लोकप्रिय रहे कबीर और तुलसी सोशल एक्टिविस्ट भी थे,

सिर्फ भाषा के बुनकर नहीं थे। आज हिंदी के कितने समकालीन रचनाकारों का नाम याद आता है, जो किसी सामाजिक आंदोलन में प्रवृत्त हों? मेरे ध्यान में कुछ नाम आते हैं पर साहित्यिक समाज या तो उन्हें शंका की दृष्टि से देखता है या फिर 'साहित्यकार' ही नहीं मानता।

'साहित्यकार साहित्य रचना के अलावा कुछ और क्यों करे? यह उसकी विशेषज्ञता है। वह लिखता है, क्योंकि लिखे बिना रह नहीं सकता। वह खुद लिखता भी नहीं, यह तो कविता-कहानी ही है जो उससे खुद को लिखवा लेती है। लिखता है, क्योंकि लिखने के अलावा वह कुछ कर नहीं सकता।' अजीब हैं ये वक्तव्य! आखिर लेखक बने रहते हुए आप इनकम टैक्स वसूलते हैं। जिले-भर की फाइलों पर काम करते हैं। अखबार की नौकरी में कंप्यूटर पर कविताएं लिखते हुए दुनियाभर के षड्यंत्र रचते हैं। विश्वविद्यालय में हों तो चाणक्य से भी ज्यादा मेहनत कर अंदरूनी राजनीति में अन्य प्राध्यापकों को अपने किले के पास भी नहीं फटकने देते। लेकिन, लेखन में मेहनत-जिम्मेदारी का काम नहीं करना चाहते!

इधर, वैसे लोगों की संख्या भी बढ़ती गई है, जो यह कहने में सम्मान समझते हैं कि उनकी रचना लिखी नहीं गई, उन पर 'अवतरित' हुई है। यह एक प्रकार की ठगी है। स्वयं और पाठक को भरमाने वाली। यह ठीक है कि रचनाकार अपनी संवेदनशीलता के अनुसार प्रभाव ग्रहण करता है। लेकिन लेखन; लिखने की प्रक्रिया तो व्यावहारिक रूप से सुनियोजित होती है। संजय कुंदन की एक कविता की अंतिम पंक्तियां याद आती हैं 'घर रहेगी तभी कुर्सी होगी, टेबुल होगी/कागज होगा कविता होगी/कविता होगी तभी कवि कहलाओगे/पुरस्कार और प्रतिष्ठा पाओगे।' साहित्य लेखन वास्तव में एक प्रकार का अभ्यास ही है। एक प्रकार की प्रैक्टिस। टेरी इगल्टन भी यही मानते हैं। लेकिन इसे स्वीकार करने में हमें अपना आभामंडल भंग होता दिखता है।

मैं कविता लिखता हूं, यह जानते हुए भी कि इसके पाठक नहीं हैं। तो आप मुझसे भी पूछ सकते हैं; क्यों लिखता हूं? निश्चित रूप से इस आशा में कि भविष्य में इसे कोई पढ़ेगा। यह वर्तमान पर फलीभूत होने वाले समग्र प्रभावों का डॉक्यूमेंटेशन है। एक किस्म की क्लर्की! जो जितना योग्य लिपिक होगा, वह उतने ही अच्छे ढंग से, उतनी ही कलात्मकता से दर्ज करेगा। पर विचारणीय यह है कि क्या इस विकट समय का सिर्फ डेक्युमेंटेशन ही पर्याप्त है?

हम 'क्लर्क' इसलिए हैं, क्योंकि हमारे पाठक नहीं हैं। रचनात्मक साहित्य पढ़ना अपनी प्रकृति में एक प्रकार की अभिजात स्थिति की भी मांग करता है।

श्रेष्ठ साहित्य पाठकीयता की दृष्टि से फुरसत, शांत चित्त की मांग करता है। जीवित रहने की जद्दोजहद में उसे नहीं पढ़ा जा सकता। निश्चय ही हमें उस दिन का इंतजार है, जब इतनी फुरसत सबके जीवन में हो। भूमंडलीकरण की आपाधापी ने पाठकीयता के विकास की संभावनाएं छीन ली हैं। मनुष्य होने के अधिकार से वंचितों का दायरा बढ़ता चला जा रहा है। ऐसा लगता है आने वाले समय में 60-70 फीसदी लोग इस दायरे में आ जाएंगे। ऐसे में अगर हम सिर्फ कहानी-कविता-समीक्षा करते रहे, तो सोचिए उन बाजारवादियों से अलग कैसे होंगे; जो 20 फीसदी लोगों को लक्ष्य मानकर नीतियां बना रहे हैं? उनके विरुद्ध खड़ा होना चाहते हैं, तो सिर्फ कविता-कहानी काम न देगी। सशक्त संगठन बनाने होंगे। सुनियोजित आंदोलनों में उतरना होगा। श्रमपूर्वक तथ्ययुक्त वैचारिक लेखन करना होगा। साहित्य के लिए नहीं, जनता के पक्ष में। रचनात्मकता को कवि-लेखक, कलाकार नहीं बचा सकते, अंततः उसे जनता के भरोसे ही टिकना है।

जहां तक पाठकीय रुझान की बात है, तो मुझे लगता है कि ऐसे वैचारिक लेखन के पाठक बढ़े हैं, जो आज की समस्याओं को समझने के लिए दृष्टि उपलब्ध करवाए। समाज के किसी भी क्षेत्र में सक्रिय हस्तक्षेप करने वाले लोगों का लेखन गंभीरता से लिया जा रहा है। साथ ही उस मिथक पर भी गहरी चोट पहुंची है, जिसके आधार पर यह माना जाता है कि 'लेखक' ही लिख सकता है।

प्रसंगवश बताऊं कि आज ही अग्रज मित्र मुशर्रफ आलम जौकी का ई-मेल मिला है; लिखते हैं—'मौसम के बदले हुए मिजाज का शिकार आज की दुनिया में कोई भी हो सकता है/ये वक़्त है दुआओं का/...हम कहां जा रहे हैं/बहुत अंधेरा है/इस अंधेरे में उम्मीद की कंदील रोशन करनी है/इक अदीब की हैसियत से हमारी ज़िम्मेदारी दूसरों से कहीं ज्यादा बढ़ जाती है'। उनसे कहना चाहता हूं कि दुआओं से क्या होगा, जौकी साहब? गर हमारी जिम्मेदारी ज्यादा है, तो हमें ही मैदान में उतरना होगा।

नोम चोमस्की की बात याद कीजिए : 'समूची दुनिया के अदीब इस दुनिया और समाज को और अधिक बेहतर मानवीय और आपसी भाईचारे से ओतप्रोत एवं संवेदनशीलन बनाने के लिए जो कुछ सोचते-विचारते-लिखते रहे हैं, उस दिशा में यदि आपस में तालमेल रखते हुए पूरी निष्ठा और ईमानदारी से सिर्फ एक माह के लिए भी प्रयासरत हो जाएं, तो समूची दुनिया की शक्ल बदल जाएगी।'

सोच के चलना मुसाफिर यह ठगों का गांव है!

'असिक्नी' के लिए जो अन्य सवाल आपने पूछे हैं, उनमें से अधिकांश के सरोकार कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं तक सीमित हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि लेखक संगठन मृतप्राय हैं। ठगी का धंधा जोरों पर है। यारों का कुछ भी छपे; यार लोग वाह-वाह करने लगते हैं। ऐसे ही एक संदर्भ में अन्यत्र, कुमार अंबुज की यह कविता कोट कर चुका हूं। इसलिए यहां उस प्रसंग को विस्तार न दूंगा। कुमार अंबुज की पंक्तियां संभवतः मेरा मंतव्य आप तक पहुंचा देगी : 'कहिए, कुछ भी कहिए, आपके पास तो भाषा है/मदारी से कहिए भाई वाह अच्छा तमाशा है/दिनचर्या में निष्क्रय रहिए/भूखे मरिए लेकिन बताइए, मुंह में घुल रहा बताशा है/कहानी में, कविता में लिखिए—आशा है, आशा है।'

हां, बिना 'एजेंडे' के कैसे लिखा जाएगा और उसका क्या अर्थ होगा, यह समझना जरूरी है—जैसे आप टाइपराइटर की कुंजियों पर यूं ही उंगलियां दौड़ा दें और बिना किसी तारतम्यता के अक्षर उकेरते चले जाएं। बिना एजेंडे के रचना तो दूर, एक 'शब्द' बनना भी असंभव है। अब देखिए, आपकी यह बहस भी तो एक एजेंडे पर ही आधारित है—'आंदोलनों और संगठनों का रचनात्मकता पर प्रभाव' क्या आपके द्वारा निर्धारित यह विषय, हमारी बातचीत का पूर्वनिर्धारित एजेंडा नहीं है? इतना जरूर है कि 'नारेबाजी' हो तो रचनात्मक साहित्य का आस्वाद विलुप्त हो जाता है। 'मौलिकता कम एजेंडा ज्यादा' की बात अपने कही है तो यह मुझे प्रकृति के आधुनिक सुकुमारों पर लागू होती प्रतीत होती है। फूल-पत्तियों पर कब से लिखा जा रहा है? वही ओस, वही पत्ती हिली-गिरी, पेड़ चौंका-कौआ हंसा; सब वही! स्त्री-दलित विमर्श तो नए 'एजेंडे' हैं। स्वाभाविक तौर पर इनसे संबंधित लेखन ज्यादा मौलिक है; आपकी और मेरी उपरोक्त तमाम आपत्तियों के बावजूद।

आपका, प्रमोद रंजन

(15.10.2005)

प्रति,
निरंजनदेव शर्मा, संपादक, असिक्नी
ढालपुर, कुल्लू, हिमाचल प्रदेश

(असिक्नी, अगस्त, 2007)

यशपाल के हिमाचली होने का अर्थ

आज जब यशपाल के जन्म का सौवां साल पूरा हो रहा है, तो यह देखना प्रासंगिक होगा कि हिमाचली समाज के लिए उनके होने के क्या मायने रहे हैं? उनकी जन्मशती पर डाक टिकट जारी होने की घोषणा हो चुकी है। फिटलैटिक विभाग की सूचना के अनुसार इसे तीन दिसंबर को लखनऊ में जारी किया जाना है।

यशपाल साहित्य परिषद, नादौन इस बात पर फख्र कर सकती हैं कि भारत सरकार के फिटलैटिक विभाग ने उससे इस समारोह को आयोजित करने के लिए पूछा। हालांकि, परिषद् धनाभाव के कारण इस आयोजन को करने में असमर्थ रही। पर यह दीगर मामला है। सवाल, इस आयोजन को करने में हिमाचल की सामर्थ्य या धनाभाव के कारण असमर्थता का नहीं है।

सवाल यह है कि यशपाल की क्रांतिचेतना को हिमाचल कितना अंगीकार कर सका है? इस शताब्दी वर्ष में हमें यह भी देखना चाहिए कि यशपाल की विश्व दृष्टि का हिमाचली समाज में कितना विकास हुआ है? वे हिंदी के ही नहीं संभवतः सभी भारतीय भाषाओं के उन थोड़े से ऐसे लेखकों में से हैं, जिनके लेखन में वैचारिक विचलन नहीं है। मार्क्सवाद के प्रति उनकी यह प्रतिबद्धता दुर्लभ है। यही कारण है कि उनका संपूर्ण साहित्य आज भी देश-भर के जनोन्मुख लेखकों के लिए आदर्श है। मार्क्सवाद के प्रति समर्पितों में से एक, ज्ञानपीठ प्राप्त पंजाबी लेखक गुरदयाल सिंह भी इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि यशपाल का जीवन और लेखन एकात्म और प्रतिबद्धता की मिसाल हैं।

स्वतंत्रता आंदोलन के सशस्त्र संघर्ष में सक्रिय रहे यशपाल को अपना शिखर पुरुष मानने वाले हमारे सत्तालोलुप लेखक कब यह समझेंगे कि लेखक और व्यवस्था मात्र का संबंध द्वंद्वात्मक ही हो सकता है; इनमें तारतम्य या समन्वय की गुंजाइश नहीं होती। यशपाल हिमाचल के गौरव इसलिए ही हैं कि वे हमें भारतीय लेखन

की मुख्यधारा और राजनीति की विश्व दृष्टि से जुड़ने की प्रेरणा देते हैं। हम यशपाल के बहाने उस थाती के वाहक बन जाते हैं, जिसने क्रांति का स्वप्न देखा था। यही उनके हिमाचली समाज से संबद्ध होने का कुल अर्थ है। हम उन स्वप्नों की दिशा में कितना बढ़ सके हैं, यह अलबत्ता एक प्रश्न है।

(3 दिसंबर, 2003, दिव्य हिमाचल)

चयन के विकल्पों पर ताला

हिंदी अखबारों की हालत यह है कि किसी एक अखबार की बात तो छोड़िए, कुल जमा जो 10-12 प्रमुख दैनिक हैं, उनमें भी कोई मौलिक अंतर आप नहीं तलाश सकते। सभी के सभी एक-दूसरे की प्रतिकृति लगते हैं। इन अखबारों में पाठक के लिए अपनी रुचि के अनुरूप चयन का कोई विकल्प नहीं है। हिन्दी का कोई भी अखबार उठा लें, एक-सी ही सामग्री सभी में मिलेगी। वही चटखारेदार अंतिम रंगीन पृष्ठ, ग्लोब या बाजार के किसी बासी प्रतीक के नीचे एक पन्ने पर कथित 'अर्थ जगत' की खबरें। देश-विदेश के विरोधाभासी शब्द युग्म के अंतर्गत, जो कुछ सहजता से उपलब्ध हो उसी से काम चलाती सूचनाएं। यदि आप क्रिकेट में रुचि नहीं रखते, तो खेल पृष्ठ पर नजर डालना भी व्यर्थ लगेगा। यदि विचार के क्षेत्र की अद्यतन जानकारी चाहते हों तो इसमें संपादकीय पृष्ठ आपकी शायद ही मदद कर पाए। इस पन्ने पर तो सभी अखबारों ने मानो कुछ पत्रकारनुमा साहित्यकारों की सामायिक टिप्पणियों के अतिरिक्त अन्य सभी अनुशासनों के लिए प्रतिबंध ही लगा रखा है।

हर अखबार स्वयं को 'दो पक्षों' (वह लाश और हत्यारे दोनों की हिमायत करना चाहता है) की आवाज कहना पसंद करता है। इसलिए जब वर्ष 2002 के गुजरात दंगों के बाद संपादकों-मालिकों को अपने अखबारी पन्नों पर धर्म-निरपेक्षता की आवाज अधिक ऊंची होती दिखी, तो उन्होंने दीनानाथ मिश्र, भानुप्रताप शुक्ल सरीखे घोषित सांप्रदायिक पक्षकारों को 'स्वतंत्र टिप्पणीकार' बनाकर पेश करना आरंभ कर दिया। काश हिंदी अखबारों के नीति-निर्धारकों को प्रतिपक्ष बन सकने के लिए अनिवार्य तर्कों की समझ होती! वैसे यह समझ से अधिक निहित सामाजिक-व्यावसायिक हितों का मामला है।

इसी तरह पहले पेज पर प्रायः एक ही खबर सभी अखबारों की सुर्खी होती है। बताने की आवश्यकता नहीं कि ऐसा अखबारों का अपना कोई सामाजिक सरोकार,

सतह के नीचे निरंतर गतिमान रहने वाले किसी मूल सिद्धांत के न होने के कारण होता है।

नक्सलवाद, आतंकवाद और अपराध के फर्क को कोई भी अखबार चिह्नित नहीं करता। न ही वह चारू मजूमदार, प्रभाकरन और बल्लू श्रीवास्तव जैसे व्यक्तियों के मौलिक अंतर को अपने पाठकों के समक्ष रखता है। उनके लेखे राजेश जोशी, अरुण कमल, आलोक धन्वा, बरबरा राव के साथ-साथ अटल बिहारी वाजपेयी और बल्लू श्रीवास्तव भी कवि हैं। पाकिस्तान की ओर अनवरत आंखें तरेरे रहना और अमेरिका को पिता मानते हुए पुत्रवत नाराजगी तो खैर इनका पुराना शगल है ही। यह प्रवृत्तियां बताती हैं कि ये सत्ता के वर्चस्ववादी तर्क से इतर बहुत दूर तक सोचने में समर्थ नहीं हैं।

एक क्षेत्र में प्रसार वाले अखबारों में एक-दूसरे की तरह दिखने-बनने की अनवरत होड़ रहती है। सामान्य समाचार पृष्ठों पर भी ध्यान इस बात पर नहीं होता कि समाज और राजनीति में घटित हो रहे किन परिवर्तनों को स्थान मिलना चाहिए या कौन-कौन से पक्ष अभी भी अंधेरे में हैं। वे अपने प्रतियोगी पत्रों से अंधी प्रतिस्पर्धा में संलग्न रहते हुए सिर्फ इस बात पर जोर देते हैं कि दूसरे अखबारों में छपने वाली कोई खबर हमसे न छूट जाए।

इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप ये एक-दूसरे की अनुकृति बनते चले जाते हैं और पाठकों के लिए चयन की सुविधा के सभी विकल्प बंद कर देते हैं। खबरों के अतिरिक्त पठनीयता बढ़ाने और विविधता बनाए रखने के नाम पर निकाले जाने वाले परिशिष्टों के विषय भी सभी हिंदी अखबारों में एक से ही हैं। नारी, बच्चे, करियर, फिल्म और आध्यात्म। इसके अतिरिक्त एकाध परिशिष्ट रंग, विविधा, लाइफ आदि शब्दों के गठजोड़ से उद्भूत किसी रंगारंग चमकीले नाम से भी होता है, जिसमें वस्तुतः इन्हीं 5-6 विषयों की मिली जुली खिचड़ी परोसी जाती है। गोया हमारा समाज इतना चिंताविहीन हो गया है कि अब विषय ही नहीं बचे हों। या हिंदी पट्टी के महिला-पुरुषों ने यह घोषित कर दिया हो कि अब वे बुनाई-कढ़ाई करने, जायकेदार खाना बनाने-खाने, फिल्मी चटखारे लेने, जूते-कपड़े खरीदने, सास या पत्नी से सरस संबंध बनाने, प्रभु में मन रमाने अथवा किसी सनकी के गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकॉर्डनुमा कारनामों का हिसाब रखने के अलावा न कुछ करेंगे न सोचेंगे। न ही पढ़ेंगे-जानेंगे। हिंदी अखबारों की यह प्रवृत्ति पाठकों को संस्कारित करने के स्थान पर सामाजिक यथार्थ की विकृत तस्वीर प्रस्तुत कर सिर्फ उन्हें भ्रमित ही नहीं करती, बल्कि ऐसा कर अखबार पाठक संख्या की प्रतिद्वंद्विता की दूरगामी

दौड़ में अपनी सीमा रेखा भी बनाते चलते हैं। दूसरे बातें छोड़ भी दें तो आबादी का आधा हिस्सा, महिलाओं की रुचि परिशिष्टों के तमाम टोटकों के बावजूद, अखबारों में क्यों नहीं विकसित हो पाई? या 52 प्रतिशत युवाओं की आबादी वाले इस देश के हिंदी अखबारों के पास युवाओं के लिए इधर-उधर से उड़ाए गए माल से निकाले गए करियर परिशिष्ट और सस्ते फिल्मी गॉसिप के अलावा भी कुछ है?

अखबारों द्वारा चयन के विकल्पों को सीमित करते जाने के पीछे हिंदी पत्रकारिता में कम वेतन होने के कारण इस क्षेत्र में रचनात्मक (तकनीकी व लेखन-विचार क्षेत्र, दोनों के) लोगों को न आना तो है ही, साथ ही इसके लिए मीडिया-क्षेत्र में व्याप्त सवर्णवाद भी कम जिम्मेदार नहीं है। विभिन्न जाति-समूहों से आए लोगों के अनुभव से हिंदी मीडिया स्वयं को अधिक संपन्न बना सकता था। हिन्दुओं की दो-तीन जातियों का वर्चस्व भी इसकी एकरसता का एक बड़ा कारण है।

(ग्राम परिवेश, 28 जनवरी, 2005)

खण्ड 4

पौड़ियों के अरे-परे

(समाचार पत्रों के लिए लिखी गईं टिप्पणियां)

एक अदद फुन्नन मियां

शिमला के ऐतिहासिक गेयटी थिएटर में पिछले दिनों तीन नाटक मंचित किए गए। 'जाति ही पूछो साधु की', 'ट्रेन टू पाकिस्तान' और 'गोदान'। त्रिदिवसीय मनोहर सिंह स्मृति नाटक उत्सव के दौरान मंचित इन तीनों नाटकों के शीर्षकों पर ध्यान दें, तो इनका कथ्य जानने वालों को इनके चयन का आधार समझने में देर नहीं लगेगी।

समााजिक भेदभाव, सांप्रदायिकता और महाजनी संस्कृति की रचनात्मक समझ पैदा करने वाली इन कथा-कृतियों का चयन देखकर चयनकर्ता के प्रति सम्मानभाव सहज ही जागता है। गेयटी में इनकी प्रस्तुति भी सराहनीय थी। किंतु गत शनिवार को गोदान के मंचन के दौरान शिमला के कथित सांस्कृतिक दर्शकों की हरकतें आश्चर्यजनक थीं। दृश्य-दृश्य पर तालियां और मार्मिक संवादों पर ठहाके...! यहां मौलिक प्रश्न तो यही आता है कि क्या गोदान पढ़ते हुए हँसा जा सकता है? क्या कोई भी संवेदनशील मनुष्य होरी-गोबर की त्रासदियों पर तालियां पीट सकता है? या फिर यह कि क्या हमारे शिमला में नाटकों का दर्शक-वर्ग वही है जो गोविंदाछाप फिल्मों का है?

हालांकि, नाट्य प्रस्तुत गोदान के निर्देशक प्रवीण चांदला ने नाटक के आरंभ होने से पूर्व दर्शकों से मोबाइल फोन बंद करने की अपील की थी। चांदला ने बड़े ही गरिमापूर्ण ढंग से गोदान के गंभीर कथ्य की ओर इशारा भी किया था। फिर भी हँसी के फव्वारे उड़ते रहे और आमंत्रित ऑफिसर-पत्नियां अपने बच्चों को समझाती रही कि 'चमार' मीन्स 'शेड्यूल कास्ट'!

अब्दुल विस्मिल्लाह के एक उपन्यास में जब गालिब की गजल गाती वेश्या के साथ एक किशोर अश्लील हरकतें करता है, तो नायक फुन्नन मियां उठकर उसे जोरदार तमाचा जड़ देता है। और वह इस बारे में इतनी ही सफाई देना पर्याप्त समझता है कि 'वह गालिब की गजल गा रही थी!' यह उस महान शायर के प्रति

पवित्र भाव था। क्या यही गरिमा प्रेमचंद और उनके गोदान की नहीं है? बेशक, है। तो फिर शिमला के नाट्य संगठनों के कर्ताधर्ताओं को सोचना चाहिए कि वे अपने दर्शकों के बीच एक अदद फुन्नन मियां क्यों नहीं पैदा कर सके।

(14 अप्रैल, 2003, भारतेंदु शिखर)

दूर की कौड़ी

पिछले दिनों शिमला की एक संस्था ने 'गांधी और साहित्य विमर्श' नाम से एक आयोजन किया। वक्ता थे दिल्ली विश्वविद्यालय के एक 'समाजवादी' प्राध्यापक। उन्होंने अपने व्याख्यान में गांधी की साहित्यिक समझ के संदर्भ में अपनी कई 'नई' स्थापनाएं घोषित कीं। मसलन, गांधी प्रेमचंद के नजदीक दिखते हैं। रहस्यवादी अवधारणाओं का खंडन करते हैं। तॉलस्ताय से प्रभावित होकर श्रम को सौंदर्य मूल्य मानते हैं। समकालीन साहित्य से गांधी की अपेक्षा प्रेम और पौरुष की थी। बापू की मान्यताएं दलित आधुनिक सौंदर्यशास्त्र के काफी निकट हैं। दलितों का गांधी-विरोध सरासर गलत है। गांधी के साहित्यिक मूल्य, सत्य, श्रम, पारदर्शिता, भाषा और संप्रेषणीयता थे, जो आज के लेखन के लिए भी प्रासंगिक हैं—आदि... आदि।

डॉक्टर साहब के लंबे व्याख्यान का लब्बोलुआब यह था कि गांधी के साहित्य-कला संबंधी विचार आज के लेखकों के लिए भी आदर्श होने चाहिए। उद्धरण-दर-उद्धरण उन्होंने इस बात को गणितीय आंकड़ों की तरह 'सिद्ध' कर डाला!

प्राध्यापकीय आलोचना के आतंक के बारे में पढ़ता तो रहा था, लेकिन इस आयोजन में मेरा उससे पहला साक्षात्कार हुआ। इस तरह की आलोचना का तरीका यह होता है : पहले एक लंबा उद्धरण, फिर उसकी व्याख्या करती 4-6 पंक्तियां; फिर 'अतः (अर्थात्)' गांधी यह समझते थे कि...।' या, 'इससे यह स्पष्ट होता है कि'...। और हर विलक्षण-स्थापना के बाद सत्यनारायण स्वामी की कथा की तरह... इति पंचम् अध्याय 'इससे यह सिद्ध होता है कि'...!

इस तरह की आलोचना में संशय, औचित्य, अनौचित्य जैसा कोई विचार नहीं आता। वहां तो बस 'सिद्ध' कर डालने की अफरातफरी होती है; उन्हें कहिए तो नाथूराम गोडसे को भी सहिष्णु हिंदू-धर्म का नंबरदार अहिंसा का पुजारी गांधीवादी सिद्ध कर दें। तिल का ताड़ या राई का पहाड़ बनाना जैसी कहावतें ऐसी आलोचना

पर फिट बैठती हैं। ऐसी आलोचना पर किसी भी विचारधारा का मुलम्मा हो–वेद में विज्ञान की तलाश हो या गांधी वांग्मय में साहित्य आलोचना की–वह किसी भी रूप में हमारा विवेक बढ़ाने में भूमिका नहीं निभाती।

(ग्राम परिवेश, 1-7 जून, 2005)

शिमला की संन्यासिन सरोज

सरोज वशिष्ठ द्वारा तिहाड़ जेल में किए गए कार्यों का उल्लेख करते हुए किरण बेदी ने अपनी पुस्तक 'इट्स ऑलवेज पॉसिबिल' में लिखा है कि 1993 में सरोज की उम्र 60 वर्ष की थी, किंतु देखने में काफी कम उम्र की लगती थीं। जीवन के प्रति उनका उत्साह अद्वितीय था। 72 बसंत देखने के बाद भी आज की सरोज के उत्साह में कोई कमी नहीं है। वे वृद्धावस्था को जीवन का सबसे खूबसूरत हिस्सा मानती हैं। उनके अनुसार यही तो मजे लूटने का वक्त है। वह मानती हैं कि अगर आप रोगी नहीं तो इस उमर में जीवन की आपाधापी में घुटते रहे सपनों को साकार कर सकते हैं।

उनकी ऊर्जा को देखकर कोई भी हैरान हो सकता है। कहती हैं, दिन 24 की बजाय 48 घंटे का होना चाहिए, ताकि ढेर सारा काम किया जा सके। उन्होंने अपने चारों ओर मदमस्ती का ऐसा घेरा बना रखा है, जिसके निकट फटकने की हिमाकत उदासी नहीं कर सकती। हर पल उल्लास छलकाते रहने का उन्हें कई बार खामियाजा भी भुगतना पड़ा है। एक बार तो शिमला रेडियो स्टेशन में कार्यक्रम पेश करने के दौरान उन पर ड्रग एडिक्ट होने का भी शक किया गया।

सरोज के अभिभावक लाहौर में रहते थे। शिमला में उनका काफी लंबा-चौड़ा कारोबार था। वे छुट्टियों में शिमला आया करती थीं। 13-14 वर्ष की रही होंगी, जब माल रोड पर सतीशचंद्र वशिष्ठ ने उन्हें देखकर जगमोहन का गीत गाया था : 'मुझको है तुमसे प्यार क्यों...।' फिर शुरू हुआ था शायराना खतों के लेन-देन का सिलसिला। खत सरोज की मां के हाथ पड़े और खूब पिटाई हुई, लेकिन पिता ने साथ दिया। आज वही सतीश चंद्र वशिष्ठ सरोज के पति हैं, जिनके मुंह पर कभी उन्होंने फूलों का गजरा दे मारा था।

सतीश वैज्ञानिक हैं। साहित्यिक लेखन में रुचि रखने वाली सरोज वशिष्ठ उनके विज्ञान संबंधी सेमिनारों में भी उतनी ही उत्सुकता से जाती हैं, जितनी खुशी

से वे साहित्यिक गोष्ठी में शरीक होती हैं। यह पूछने पर कि 'आपने तो 13 वर्ष की उम्र में ही प्रेम की पींगें बढ़ा दी थीं, क्या आज इस उम्र की लड़की को इसकी इजाजत देनी चाहिए?' बिंदास कहती हैं, 'प्रेम में संस्कार महत्वपूर्ण हैं, न कि उम्र। यह तो आग का दरिया है, जिसमें डूबकर हर उम्र के आशिक को गुजरना होता है।'

सरोज वशिष्ठ फैशनेबल भी कम नहीं हैं। उनका फैशन अजीब किस्म का होता है। विभिन्न रंगों की ढेर सारी मालाएं, रुद्राक्ष, विभिन्न आकार-प्रकार के पत्थर उनके गले में झूलते रहते हैं। उंगलियों में इतने किस्म की अंगूठियां कि गिनना मुश्किल।

वे बताती हैं कि इन्हें धारण करने के पीछे कोई आध्यात्मिक-तांत्रिक कारण नहीं है, लेकिन इससे उन्हें बहुत 'लाभ' मिलता है। कैसा लाभ? वे कहती हैं कि कुछ मूढ़मति इसी कराण उन्हें कोई पहुंची हुई संन्यासिन समझ बैठते हैं और चरण छूकर आशीर्वाद मांगते हैं। कुछ तो दान-दक्षिणा देने को भी तत्पर हो जाते हैं। दान तो वे नहीं लेतीं, लेकिन आशीर्वाद देने का सुख खूब उठाती हैं।

वैसे देखा जाए तो विभिन्न जेलों तथा समाज के अन्य तबकों के बीच किए गए काम उन्हें वास्तविक 'संन्यासिन' का दर्जा देने के लिए पर्याप्त हैं। किरण बेदी ने भी अपनी पुस्तक 'इट्स आलवेज पॉसिबिल' में लिखा है कि सरोज को कैदी सम्मान भाव से 'अम्मा' कहा करते थे। राग-द्वेष से कोसों दूर इस संन्यासिन अम्मा को शिमला भी कम प्यार नहीं करता।

(6 मई, 2005, दैनिक भास्कर)

वह प्रेम

प्रिया दी ने कमलेश्वर से 14 वर्षों तक प्रेम किया। लेकिन उन्हें देखा, उनकी मृत्यु के एक महीना पहले। क्या यह तप था? यदि हां तो इस तपस्या का हासिल क्या है? शायद वह कहेंगी 'जीवन'। कमलेश्वर ने उन्हें जीवनदान दिया! उनके जीवन-रस के सूखे कुंड में अमृत की बूंदें मिलाईं। उनमें 'सुनीत' (विनम्र) से 'प्रिया' बनने की हिम्मत पैदा की थी। वह हारने लगतीं, तो कमलेश्वर पत्र में लिखते 'मैं साया बनकर तुम्हारे साथ रहूंगा; हिम्मत मत हारना।' वह कभी उन्हें 'काबुली वाला' तो कभी 'सांता क्लॉज' कहतीं।

सुनीता उत्तर प्रदेश के एक छोटे से शहर में ब्याही गई थीं। कई वर्षों तक झगड़ालु पति का साथ निभाया। मार खाते हुए 2 बेटे भी जने। जब दोनों बड़े होकर सरकारी नौकरियों में लग गए, तो पति का घर हमेशा के लिए छोड़ हिमाचल के पहाड़ों की ओर चली आई। चम्बा में एक महिला पत्र-मित्र के पास। इस 'हिमाकत' का साहस उन्हें खुद की लिखी प्रेम कहानियों और कमलेश्वर के पत्रों ने दिया था। उनके द्वारा लिखी गई प्लेटोनिक प्रेम कहानियां पंजाब केसरी व 'पारिवारिक' पत्रिकाओं में छपती रही थीं। चम्बा आकर किसी स्कूल में पढ़ाने के बाद उन्होंने हिमाचल से निकलने वाले एक क्षेत्रीय अखबार में काम करना शुरू किया और पूरी तरह 'प्रिया आनंद' बन गईं। सन् 2003 में मैंने भी उस अखबार को ज्वाइन किया। लेखन के कारण ही हम अंतरंग हुए। हालांकि, इसमें कई बाधाएं भी थीं। वह धर्मभीरू और कर्मकांडी थीं और मुझसे उम्र में भी लगभग 25 वर्ष बड़ी थीं। अखबारी लेखन के अलावा वह अब भी आंसू भरी प्रेम कहानियां ही लिखा करती थीं। लेकिन, खाना गजब का लजीज बनाती थीं। तेल का वैसा जायकेदार इस्तेमाल मैंने कहीं और नहीं देखा। हाथों के इसी हुनर ने मुझे उनका मुरीद बनाया और जल्दी ही वह मेरे लिए 'प्रिया दी' बन गईं।

उन तक कमलेश्वर के पत्रों का आना जारी था। इस समय वह 50 की उम्र

को पार कर रही थीं, जबकि कमलेश्वर 71 वर्ष के थे। इन पत्रों को लेकर उनकी अजीब हालत रहती थी—वह इनके बारे में जितना छिपाना चाहती थीं, उससे अधिक बताना चाहती थीं। बहुमुखी प्रतिभा वाले स्टार कमलेश्वर उनके जीवन-संघर्ष में धैर्य का श्रोत थे। इन पत्रों से उस अखबार के भीतर उनका प्रभाव बढ़ता था; लेकिन प्रेम का राज खुलता था। एक बार मैंने जानबूझकर शातिराना अंदाज में इन पत्रों के अस्तित्व पर संदेह किया, तो दूर से ही खूबसूरत कलात्मक हस्तलिपि वाले पत्र दिखाते हुए वह नवोढ़ा-सी लजाई थीं। (नवम्बर, 2005 में 'ग्राम परिवेश' के पत्रकारिता अंक पर कमलेश्वर जी का प्रशंसात्मक पत्र मिलने पर मुझे उनकी सुंदर हस्तलिपि नजदीक से देखने का मौका मिला) कुछ समय बाद प्रिया दी के नाम 'कितने पाकिस्तान' की हस्ताक्षरित प्रति दफ्तर के पते पर पहुंची, तो अन्य लोग भी चौंके।

उसी दौरान कमलेश्वर जी ने कुछ बार दफ्तर के नम्बर पर फोन कर उनसे बात भी की। वह ऊंचा नहीं सुनती थीं, लेकिन दफ्तर के शोर में बात करने में उन्हें काफी कठिनाई होती थी। जल्दी ही उन्होंने अपने मामूली वेतन से की गई बचत के पैसों से मोबाइल ले लिया। यह सिर्फ मैं जानता था कि उन्होंने मोबाइल पर इतने पैसे सिर्फ अपने 'काबुली वाले' के लिए खर्च किए हैं।

लगभग 35 वर्ष पहले राजेन्द्र यादव ने लिखा था—'अपने प्रेम' संबंध को लेकर पहले वह (कमलेश्वर) झूठ बोला करता था; आज उसे ऐसे किसी बहाने की आवश्यकता नहीं है।' उस समय कमलेश्वर की उम्र 40 वर्ष के आसपास रही होगी। मेरे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि 70-71 वर्ष के कमलेश्वर इस प्रेम के बारे में बहाने बनाते थे अथवा नहीं। लेकिन, प्रिया दी को देखते हुए मैं यह जरूर सोचा करता था कि वह इन पत्रों को लिखते हुए कहानी, उपन्यास या स्क्रिप्ट लिखने या पत्रकारिता करने से कम महत्वपूर्ण काम नहीं कर रहे हैं।

वह उन्हें कभी चंबा रूमाल तो कभी अंदेरेटा के खरीदी गई शोभा सिंह की पेंटिंग तो कभी टिपिकल हिमाचली 'जरीफ' (मसालेदार सौंफ) भेजा करती थीं। जबकि कमलेश्वर जी ने अपनी एक-दो किताबों (और उस शेफर पेन, जिससे 'राजा निरबंसिया' लिखी गई थी) के अतिरिक्त शायद ही उन्हें कोई उपहार दिया हो। फिर भी वह उनके लिए 'काबुली वाला' और 'सांता क्लॉज' थे; क्योंकि वह प्रिया दी को पत्र-दर-पत्र 'जिजीविषा' की सौगात देते रहे थे। इसी सौगात ने उन्हें आत्महत्या से बचाया था। धौलाधार की पहाड़ियों में अकेली भटकती उस महिला को जीवन-संघर्ष में जीत दिलवाई थी। वह शरमाते हुए बतातीं कि 'आज भी उनका फोन आया था।' एक रोज उन्होंने बताया कि 'सांता क्लॉज' ने उन पर एक कहानी लिखी है—'मानसरोवर का हंस'!

दिसंबर, 2006 में एक छोटी-सी संस्था के बुलावे पर कमलेश्वर हिमाचल के मंडी शहर में पहुंचे। आयोजकों को शायद यह संदेह रहा हो कि वे आएंगे या नहीं, लेकिन प्रिया दी जानती थीं कि काबुली वाला आएगा। कमलेश्वर ने उन्हें भी बुलवाया। मैं नहीं जानता कि अपने प्रियतम को साकार देखकर प्रिया दी के चेहरे पर कौन-से भाव आए। वह किस तरह आह्लादित हुई। गायत्री जी के साथ कमलेश्वर वहां दो दिनों तक रहे। प्रिया दी भी। वहां सारी व्यवस्था होटल और रेस्ट-हाउस में थीं। काश, कमलेश्वर प्रिया दी के हाथों का बना लजीज खाना पाते! मंडी से लौटने के लगभग एक महीने बाद 27 जनवरी, 2007 को कमलेश्वर का निधन हो गया।

(13 फरवरी, 2007, प्रभात खबर)

निर्मल और शिमला

निर्मल वर्मा की तमाम रचनाओं पर शिमला की छाप रही है। 'लाल टीन की छत' के नीचे बैठे 'धुंध से उठती धुनों' को देखते हुए यहीं उनकी लेखकीय चेतना विकसित हुई थी। प्रशस्तियों के साथ उन्हें झेलनी पड़ी आलोचनाओं में भी शिमला कहीं-न-कहीं जरूर रहा।

लेकिन, इस शहर में शायद कोई भी ठीक-ठीक नहीं जानता कि वह मकान कौन-सा है, जिसके बरामदे से निर्मल अनाडेल का मैदान देखा करते थे? आज अनाडेल के खूबसूरत मैदान में सैनिक अफसरों के लिए गोल्फ क्लब है। लक्कड़बाजार से पैदल चलकर अनाडेल मैदान के मुहाने पर पहुंचते ही एक तख्ती दिखती है, जिस पर लिखा है : 'लाइक सेक्स इन गोल्फ, सेकेंड टाइम इज आलवेज बेटर'। यहीं अब मुख्यमंत्री का हैलीकॉप्टर भी उतरता है।

3 मई, 1929 को शिमला में जन्मे ब्रिटिश भारत के रक्षा विभाग के एक उच्चाधिकारी पिता की संतान निर्मल वर्मा ने अपने उपन्यास 'लाल टीन की छत' में इस शहर को पूरी सुरम्यता के साथ चित्रित किया था। भाषा के विलक्षण वैभव के साथ रची गई इस रचना के अतिरिक्त उनके लेख संग्रह 'धुंध से उठती धुंध' में भी यह शहर आवाजाही करता है। यात्रा संस्मरण 'चीडों पर चांदनी' में भी इस शहर के दृश्य हैं। अंतिम उपन्यास 'अंतिम आरण्य' में भी उनके इस प्रिय शहर की बत्तियां जलती-बुझती रहती हैं। इस उपन्यास के वृद्ध पात्र शिमला के निकट एक ऐसे शिखर पर रहते हैं, जहां से शिमला की रोशनियां नजर आती हैं। उन पर शिमला का यह असर अनायास नहीं था। जन्म से लेकर किशोरावस्था तक का समय यहां गुजारने के कारण उनकी लेखकीय चेतना के एक बड़े हिस्से पर शिमला का असर दिखता है।

उन्होंने यहां के पहाड़ों का सार्वभौमिकीकरण किया। वह यहां जाखू स्थित बटलर स्कूल (वर्तमान केवी, जाखू) में पढ़ने से लेकर इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस

स्टडीज के फेलो (1973) और हिमाचल भाषा अकादमी द्वारा स्थापित 'यशपाल सृजन पीठ' (1989) के अध्यक्ष भी रहे। दिल्ली में बसने के बावजूद सभा-समारोहों में जब भी समय मिला, उन्होंने यहां आने का मौका नहीं गंवाया।

निर्मल जी ने शिमला से चाहे जितना ग्रहण किया हो और उससे उन्हें चाहे जितनी प्रशंसा मिली हो, इस शहर के कारण उन्हें आलोचना भी कम नहीं झेलनी पड़ी। लेकिन इस शहर ने उनकी स्मृतियों को सहेजने की जरूरत अब तक नहीं समझी है। कल उनके निधन की खबर पहुंचने पर स्थानीय साहित्यकारों द्वारा आयोजित शोक सभा में भी यह मांग किसी ने नहीं उठाई। साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में काम करने वाली सरकारी संस्थाओं को यह जिम्मेदारी उठानी चाहिए।

(29 अक्टूबर, 2005, दैनिक भास्कर)

अभी सबसे श्रेष्ठ होना बाकी है

सेवानिवृत्त ब्रिगेडियर हरजीत सिंह से मिलते ही अंग्रेजी कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग की पंक्तियां दिमाग में गूंजने लगती हैं : 'मेरे साथ बूढ़े हो जाओ/अभी सबसे श्रेष्ठ होना बाकी है।' 71 वर्षीय हरजीत न सिर्फ शिमला में अपनी जिंदादिली के लिए जाने जाते हैं, बल्कि उनके विचार भी निहायत मौलिक हैं, जो कई मामलों में बनी-बनाई धारणाओं पर पुनर्विचार करने को बाध्य करते हैं। 34 वर्ष भारतीय फौज में उच्च पदों पर काम करने वाले हरजीत देशभक्ति के खोखले नारे के पक्षधर नहीं हैं। उनका मानना है कि हमें देश के संबंध में बनी-बनाई अवधारणा पर फिर से गौर करना चाहिए। महज आधी शताब्दी पहले तक हमारी मातृभूमि के दायरे में पाकिस्तान और बांग्लादेश भी आते थे, जबकि आज उन्हें दुश्मन करार दिया गया है।

'देश की सीमाओं का चयन एक आम भारतीय नहीं करता, बल्कि हम तो हर हाल में राजनीति द्वारा किए गए निर्णयों को स्वीकार करने के लिए बाध्य हैं। यह मामला कुछ-कुछ किसी हिंदू परिवार में पैदा होकर हिन्दू-धर्म मानने या सिख परिवार में जन्म लेकर सिखी को स्वीकार करने की बाध्यता जैसा ही है।'

सेकेंड लेफ्टिनेंट से ब्रिगेडियर बनने तक के सफर में हरजीत की पत्नी हरेंद्र कौर भी साथ रही हैं। पति की तरह वह भी फौज की नौकरी को एक कर्तव्य ही मानती हैं। यह पूछने पर कि आपके पुत्र अर्जुन सिंह भी सेना में अधिकारी हैं, यदि ऐसा मौका आए कि देश, परमवीर चक्र और पुत्र के जीवन में से किसी एक को स्वीकार करना हो तो? इस सवाल पर सजल हुई वृद्ध आंखों से देखती हुई हरेंद्र कहती हैं कि 'जब सेना किसी युद्ध के लिए सीमा पर जाती है, तो लोग कहते हैं कि देखो, देश के जंवाई बने बैठे थे, अब बकरे की तरह हलाल होने जा रहे हैं। फौजी होने का आकर्षण सेना में रहने तक ही है; बाहर आपको कोई नहीं जानता।' इस दंपति की एक बेटी भी है, जो पति के साथ मुंबई में रहती है। शिमला के माल रोड पर जोधा निवास के निकट रहने वाले इस दंपति के

लिए समय बिताने का सहारा बगीचे को संवारना, अंग्रेजी पत्रिकाएं पढ़ना और घर की सलीके से सजावट करना आदि है।

हरजीत इस उम्र में भी सुबह 7-8 किलोमीटर सैर करते हैं। यह पूछने पर कि आप क्यों नहीं जातीं सैर के लिए? श्रीमती कौर कहती हैं, 'सच बताऊं! शुरू-शुरू में कोशिश की थी; लेकिन रोज ही झगड़ा हो जाता था। ये कहते कि तुम धीरे चलती हो। मैं कहती कि तुम सैर नहीं करते, दौड़ लगाते हो। श्रीमती कौर के संग ब्रिगेडियर हरजीत भी कहते हैं कि अब तो यही नोंक-झोंक और एनडीए के मित्रों की यादें ही हमारा सहारा हैं। इसका अफसोस नहीं है कि कथित देशभक्ति में हमने उम्र लगा दी; लेकिन मनुष्य जीवन का वास्तविक सौंदर्य तो हम अब महसूस कर रहे हैं।

(21 फरवरी, 2005, दैनिक भास्कर)

जनतांत्रिक संस्कृति

सोचने विचारने वाले भारतीय भी संस्कृति और परंपरा में भेद नहीं करते। प्रायः वे इन्हें पर्याय समझते हैं। कट्टरपंथी संगठन तो हिंदू-परंपराओं को ही भारतीय संस्कृति के रूप में प्रचारित करते हैं। उनकी इस कारगुजारी से समाज में जड़ता तो आई ही है, सहिष्णुता का भी ह्रास हुआ है। माल रोड पर 'बरिस्ता' रेस्तरां है। अगर यहां कॉफी पीना चाहें और आपके मन में सर्व करने वाले वेटर की छवि हो तो निराशा हाथ लगेगी। 'बरिस्ता' के सुदर्शन, युवा सेल्स एक्जीक्यूटिव स्नेहपूर्ण आवाज में आपको आपके नाम से पुकारते हुए काउंटर से कॉफी ले जाने को कहेंगे।

पिछले सप्ताह मेरे गृह प्रदेश बिहार के एक परिचित माल रोड पर मिल गए। वह कभी कम्युनिस्ट पार्टी के विधायक रहे थे। पार्टी अधिवेशन में भाग लेने अपने राज्य से बाहर निकले तो प्रकृति का आनंद लेने इधर भी आए-गए। मैंने उन्हें बरिस्ता में कॉफी पिलाई। बाहर निकलते ही उन्होंने पूछा, कितने पैसे लिए? मैंने बताया कि एक कॉफी 25 रुपये की थी। उन्होंने एक भद्दी-सी गाली उचारते हुए इस बात पर नाराजगी प्रकट की कि इतने पैसे लेकर भी सर्व नहीं करते। उन्होंने बरिस्ता में जाने को मेरी अमेरिकापरस्ती करार दिया। दरअसल, उन्हें मेरे पैसों की फिक्र नहीं थी; बल्कि यह उनके सामंती मिजाज के खिलाफ था कि सर झुकाने के बजाय बेटरनुमा प्राणी उन्हें नाम लेकर पुकारे।

मुझे उन्हें इंडियन कॉफी हाउस ले जाना चाहिए था। वहां टोपी लगाए, सफेद वर्दीधारी लोगों के सिर झुकाने पर शायद उनके अहम् को संतुष्टि मिलती।

बहरहाल, कुछ जड़ लोगों के सामंती आग्रहों के बावजूद काफी कुछ बदल रहा है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो 'बरिस्ता कल्चर' को पश्चिमी बताकर अपनी सामंती प्रवृत्तियों को सहेजे रखना चाहते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि बरिस्ता भारतीय ही है, जिसका मुख्यालय दिल्ली में है। अगर यह अमेरिकी होता, तब भी ऐसी सुसभ्य जनतांत्रिक संस्कृति को आत्मसात करना गलत नहीं माना जाना चाहिए।

(ग्राम परिवेश, 21 अप्रैल, 2005)

लोअर बाजार

शहर के रूप में पहाड़ों की रानी शिमला शहर का अपना एक अलग स्वभाव है। रिज मैदान और माल के हनीमूनी माहौल से पौड़ियां उतरने पर यह शहर परत दर परत खुलता है। ऊपर से ठंडा, रेशमी और सुस्त नजर आने वाला शिमला, संकरी सीढ़ियों से उतरकर लोअर बाजार पहुंचते ही एक नए रूप में सामने आता है। ठंडा नहीं, जीवन की ऊष्मा से लबालब खुरदरा, लेकिन हृदय की तरह अनवरत धड़कता हुआ। यह लोअर बाजार ही है, जो शिमला व आसपास के कस्बों में बसे आम लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करता है।

अपनी भव्य आभा से आतंकित करती माल रोड की दुकानों के विपरीत लोअर बाजार की दुकानें हर तबके से आत्मीयता से पेश आती हैं। कपड़े खरीदने हों तो शिमला के लोगों को प्रसिद्ध दुकान 'हाकमल-तानीमल' की याद अनायास आ जाती है। महीने का बजट गड़बड़ हो गया हो, तो यहां फुटपाथ पर बिछी दुकानों में से भी कोई अच्छी सी बेहद सस्ती जैकेट चुनी जा सकती है। हालांकि, अतिक्रमण के कारण इस व्यस्त बाजार की गलियां सिकुड़ती गई हैं। हालत यह है कि किसी महिला को यदि कपड़े खरीदने के बाद शृंगार का सामान खरीदने 'रेवानंद' तक जाना हो, तो उसका काफी समय भीड़ को चीरने में ही निकल जाता है। यहां राशन के लिए लाहौर से आए 'काहनचंद' और सुंदर पंसारी की दुकानें मशहूर हैं, तो 'मेरूचंद हलवाई' दूध-जलेबियों के लिए जाने जाते हैं। अचार-मुरब्बा खरीदना हो तो 'ठाकुर भ्राता' हैं और दोपहर की भूख मिटानी हो, तो नरेश पराठे वाला।

नई से नई ताजी हरी सब्जी ले जानी हो, तब भी शिमलावासियों को लोअर बाजार स्थित सब्जी मंडी की ही याद आती है। इतना ही नहीं, कभी शाम ढले चार यार मिल जाएं और जाम छलकाने की उमंग उभर आए, तब भी लोअर बाजार ही याद आता है। महंगे बारों की तड़क-भड़क से दूर बीस रुपये की चने-प्लेट के साथ 'मानसरोवर' में गम मिटाते दीवाने देर रात तक देखे जा सकते हैं।

(4 मार्च, 2005, दैनिक भास्कर)

मध्य-युग की हिंसक सेना

फ्रांस के स्कूलों में धार्मिक प्रतीकों के इस्तेमाल पर पाबंदी है। पिछले दिनों वहां इस कानून को और सख्त बना दिया गया। जिस पर भारतीय सिखों ने 'पगड़ी' को लेकर खूब हंगामा किया था। पगड़ीधारी मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्री बनने पर प्रवासी (कट्टरपंथी) सिखों को आशा हुई कि वे इस कानून में अपने लिए छूट पा लेंगे, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। फ्रांस ने स्पष्ट तौर पर कहा कि वह सभी धर्मों का आदर करता है, लेकिन अपने बच्चों को धर्मांध नहीं बनाना चाहता। फ्रांस से धार्मिक स्वतंत्रता के मुद्दे पर इसी सकारात्मक रुख की अपेक्षा थी। इस अपेक्षा का कारण महान फ्रांसीसी क्रांति से बना फ्रांस का अवचेतन है। आज भी उसके मिजाज पर शायद रूसो और बाल्तेयर की आलोचनात्मक दृष्टि का गहरा असर है।

लेकिन भारत? यहां 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए 'नवजागरण' ने अनेक सामाजिक सुधार किए, लेकिन उसके मूल में वैज्ञानिक चेतना के प्रसार की योजना नहीं थी। कुछ शोधकर्ताओं का तो यह भी कहना है कि वह 'हिंदी' नहीं 'हिंदू' नवजागरण था।

उसी हिंदू नवजागरण की संतानें हैं—दयानंद के नाम से चलने वाले शिक्षण संस्थान—'सनातन धर्म सभा', 'आर्य समाज' आदि। दरअसल, अलग-अलग चेहरों वाले ये कथित सांस्कृतिक संगठन आज एक विशाल हिंदूवादी तंत्र के मुखौटे बन गए हैं। ये वैज्ञानिक चेतना के प्रसार को कुंद करने के लिए जमीनी स्तर पर निरंतर सक्रिय रहते हैं। इनकी कारगुजारियों का एक नमूना गत 15 अप्रैल को शिमला में भी दिखा।

15 अप्रैल को सनातन धर्म सीनियर सेकेंडरी स्कूल और आर्य समाज सीनियर सेकेंडरी स्कूल के बच्चों का 'रामनवमी' के अवसर पर जुलूस निकाला गया। जुलूस में स्कूली बच्चों को जिस तरह से एक हिंसक फौज की तरह सजाया गया था;

वह इतना वीभत्स था कि रोंगटे खड़े हो जाएं। आगे घोड़े पर हिंसक वेशभूषा में एक किशोर और पीछे विभिन्न ध्वनियां निकालते अबोध बालक-बालिकाएं। स्काउट के बच्चों तक के बांहों पर केसरिया पट्टियां बंधी थीं। हनुमान का वेश, गदा और तरह-तरह के प्रतीकात्मक हथियारों से सजे बच्चे कहीं से विद्यार्थी नहीं लग रहे थे। जुलूस से जो बिंब बन रहा था, वह मध्ययुग की किसी कबायली सेना या अधिक से अधिक धार्मिक प्रतिद्वंद्वियों से भिड़ने के लिए बनी हिंदू सेना की पैरोडी जैसा था।

जुलूस के बाद वाला दिन और हैरान करने वाला था। प्रदेश में आने वाले सभी दैनिक वीभत्सता के स्थान पर जुलूस की कथित भव्यता और सुरूचि के वर्णनों से पटे थे। एक मित्र की बात याद आती है 'सांप्रदायिक खबरों का छपना उतना बुरा नहीं है, जितना कि खबरों का सांप्रदायिक होना' शायद यह किसी कविता की तोड़ी मरोड़ी हुई पंक्ति है।

कम्युनिस्ट पार्टियां तक यह सवाल नहीं उठातीं कि अबोध दिमागों में इस प्रकार जहर भरा जाना गलत है। ऐसे प्रदर्शनों पर प्रतिबंध की मांग तो दूर की बात है।

(ग्राम परिवेश, 22-28 अप्रैल, 2005)

हिमाचल में वाम चेतना

01 मई को मजदूर दिवस पर प्रदेश भर में सभाएं आयोजित की गईं। शिमला के आइस स्केटिंग रिंक में भी मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा एक बड़ी जनसभा का आयोजन किया गया।

हिमाचल प्रदेश जैसे प्रायः समस्याविहीन लगने वाले राज्य में संघर्ष की चेतना वाली पार्टी के प्रति जनता की सहानुभूति क्यों बढ़ रही है, इस पर अलग से समाजशास्त्रीय अध्ययन की आवयश्कता है। लेकिन, जिस उत्साह से युवा और महिलाएं भी भारी संख्या में सीपीएम, सीटू, लाल झंडा यूनियन आदि के बैनर तले एकत्र होते हैं–वह इस बात का पुख्ता प्रमाण तो है ही कि प्रदेश सामाजिक और आर्थिक रूप से उतना समस्याविहीन नहीं है; जितना बाहर वालों को दिखता है। यह दीगर बात है कि यहां वोट गणित कुछ अलग किस्म का है–जो कर्मचारी सीटू के बैनर तले अपना परिवर्तनकामी चरित्र प्रदर्शित करता है, वहीं अपने गांव घर में पहुंचकर, वोटिंग मशीन के सामने दक्षिणपंथी हो जाता है। मजदूर दिवस पर स्केटिंग रिंग में जैसा जनसैलाब था, वह इस पहाड़ी राज्य में सत्ता को थर्रा देने के लिए काफी होना चाहिए था–लेकिन कांग्रेस के साथ-साथ भाजपा भी यह जानती है कि सीपीएम इस जनाक्रोश को वोटिंग मशीन में कैद करवा पाने में फिलहाल समर्थ नहीं है।

अप्रैल के शुरुआती दिनों में तोशाली रिसोर्ट में मजदूर साथी चंद्रपाल की आत्महत्या को लेकर हिमाचल होटल मजदूर लाल झंडा यूनियन ने आंदोलन किया था। उस समय उसके साथ अन्य वाम संगठन भी आए थे। छात्र नेता टिकेंद्र पवार ऐसे आंदोलनों में हिरावल के रूप में दिखते हैं। आंदोलनकारियों ने रिसोर्ट से निकाले गए 32 मजदूरों को वापस रखने और चंद्रपाल की आत्महत्या के कारणों की निष्पक्ष जांच की मांग करते हुए 9 अप्रैल को शिमला के रेस्तरां व होटलों को बंद रखने का भी आह्वान किया था।

यह इस राज्य का दुर्भाग्य है कि यहां राजनीति में 'तीसरा' तो क्या 'दूसरा' सबल पक्ष भी नहीं रहा। बताने की आवश्यकता नहीं कि कांग्रेस और भाजपा एक ही विचारधारा के दो मुखौटे हैं। कई लोग 'पंडित सुखराम' और उनकी हिमाचल विकास कांग्रेस (हिविकां) को तीसरे पक्ष के रूप में रेखांकित करते हैं। जबकि न कभी उसकी अपनी कोई पक्षधरता रही है, न ही बेचारी ने कभी ऐसा दावा किया। पिछले दिनों कांग्रेस में विलय के साथ वह अपनी नियति के अनुसार निर्वाण भी प्राप्त कर गई।

वाम पार्टियां यहां जरूर सक्रिय रहीं, उन्हें वैचारिक धरातल पर हिमाचली राजनीति का 'दूसरा पक्ष' माना जा सकता है। राकेश सिंघा को पिछले दिनों दिल्ली में हुए सीपीआईएम महाधिवेशन में पार्टी की राष्ट्रीय कार्यकारिणी का सदस्य भी बनाया गया है। लेकिन, उनकी पार्टी प्रदेश में वोट गणित में फिसड्डी रही है; इसलिए 'दूसरी ताकत' नहीं बन पाई। संसदीय राजनीति के अपने व्यावहारिक तर्क होते हैं। वहां सिर्फ 'पक्ष' बने रहकर लक्ष्यों को हासिल नहीं किया जा सकता। इन स्थितियों के बावजूद शिमला में कम्युनिस्ट साथियों को सक्रिय देखना सुखद है।

(ग्राम परिवेश, 15 अप्रैल, 2003)

मुश्किलें इतनी पड़ीं कि आसां हो गईं

शनिवार सुबह माल रोड की चकाचौंध से दूर ईदगाह कॉलोनी में उत्सव का माहौल था। पूरे एक सप्ताह बाद कॉलोनी के नलों से पानी जो टपका। ईदगाह वासियों के लिए पानी अल्ला-ताला की नियामत से कम नहीं। न यहां एम्बुलेंस के लिए सड़क है, न ही प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र। न स्कूल, न सफाई व्यवस्था। नागरिक 2 हजार से ज्यादा, नागरिक सुविधाएं सिरे से नदारद। कॉलोनी के दुकानदार सुरेश सोनी 35 साल पहले यहां आए थे, तो अपने मामू के कमरे में बैठ रोटियां बेलता इकबाल अभी पिछले हफ्ते ही रोजगार की तलाश में आया है। उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल से आए मजदूरों, कारीगरों का शिमला में पहला ठिकाना ईदगाह कॉलोनी ही होता है।

ज्यादातर कामगार कहीं और जगह मिलने पर फुर्र हो जाते हैं, तो कई अंगद की पांव की तरह यहीं जमा 'हिमाचली' बन जाते हैं। एक कमरे में 8-10 लोग। महिलाएं भी, पुरुष भी, और नन्हे-मुन्ने भी वहीं। किसी भी ढारे (एक प्रकार की झुग्गियां) में शौचालय नहीं है, कैसे बनवाएं? न जगह है, न हैसियत। नगर निगम की बड़ी कृपा, 2 हजार लोगों के लिए 2 सीटों वाला सार्वजनिक शौचालय पिछले साल ही बना है। लेकिन, जबसे बना एक बार भी सफाई नहीं हुई। 18 वर्षीय शहना को इससे कोई परेशानी नहीं। 'सफाई हो, न हो; हम तो जंगल में निवृत्त होते हैं!' सभी समस्याओं के प्रति कॉलोनीवासियों का लगभग यही रुख है। शायद 'मुश्किलें इतनी पड़ीं कि आसां हो गईं' हैं।

(दैनिक भास्कर, 24 जुलाई, 2005)

चुनावी वादों की बरसात बेअसर

शिमला नगर निगम उप-चुनाव के वोट गणित में निर्णायक भूमिका निभाने वाले लगभग 700 वोटों की एक अजीब मांग है। 'हम जैसे हैं, हमें वैसे ही रहने दिया जाए।' हालांकि, उन्हें अपनी इस छोटी-सी मांग के पूरा होने की तनिक भी आशा नहीं।

सन्नी, आबकारी और चुंगीखाना के लोगों का सड़क, स्ट्रीट लाइट, पेयजल की आपूर्ति जैसे चुनावी वादों से कोई सरोकार नहीं। ढारे तोड़ने के अदालती आदेश के बाद उनकी रातों की नींद हराम है। सन्नी साइड ढारे में रहने वाली माया देवी तल्ख अंदाज में कहती हैं 'हमें कौन-सी कारें दौड़ानी हैं। 500 लोगों के लिए दो सार्वजनिक नल हैं, कपड़े धोने के लिए आधे किलोमीटर दूर बावड़ी तक जाना पड़ता है' उसकी सहेली रितु का लहजा भी कम तीखा नहीं 'हमारे तो घरों तक में बिजली कनेक्शन नहीं हैं, सड़क पर लगी लाइटें देख तो दिल जल-भुन ही जाता है'। ढारे तोड़ने के आदेश के बाद से चिंता में डूबे भगवान सिंह और टेकचंद कहते हैं कि 'इन चुनावी वादों से हमें क्या लेना, हमें तो बस इतना भरोसा चाहिए कि हमारी छत नहीं छीनी जाएगी।' वास्तव में शिमला नगर निगम क्षेत्र जंगलों के बीच जहां-तहां बसी इन मानवजात बस्तियों की जरूरतों और 'शहर' की जरूरतों में एक बड़ी फांक है, जिसे कोई राजनीतिक पार्टी समझना नहीं चाहती। इन ढारों के निवासियों का कहना है कि हम जैसे हैं, जहां हैं, हमें वैसे ही रहने दिया जाए। वर्तमान जगहों पर ही ढारों का नियमितीकरण किया जाए। लेकिन इस बारे में न उन्हें भाजपा और माकपा के वादे लुभा पा रहे हैं, न ही उन्हें कांग्रेस के सत्ता बल पर ही भरोसा हो पा रहा है।

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का भी चुनावी वादा है कि ढारे किसी कीमत पर नहीं हटाने दिए जाएंगे; लेकिन कैसे? इसका कोई स्पष्ट जवाब माकपा के पास भी नहीं है।

(दैनिक भास्कर, 22 अगस्त, 2005)

इधर से ही क़ाफ़िला-ए-इंकलाब गुज़रेगा

छात्रों की जीभ पर सवार नारे बहुत लंबा सफर तय करते हैं। वे सिर्फ शब्दों की कारीगरी नहीं होते, बल्कि भविष्य की राजनीतिक सत्ता को भी तय करते चलते हैं। इन दिनों छात्र संघ चुनावों के मद्देनजर प्रदेश के कॉलेज परिसर में तैरते नए-पुराने नारों में संगठनों का पारम्परिक मिजाज, वर्तमान परिस्थितियों पर उनका रुख तथा भविष्य की योजनाओं के संकेत भी छुपे हैं।

राज्यपाल द्वारा कॉलेजों में शांति बनाए रखने की सीख देने पर हुड़दंग मचाने वाली अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद (एबीवीपी) का नारा है 'तलवारों की धारों पर इतिहास हमारा चलता है। तो, महामहिम के सामने वाइस चांसलर के खिलाफ मोर्चा खोल अपने लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए अड़ जाने वाली स्टूडेंट फेडरेशन ऑफ इंडिया (एसएफआई) कहती है 'भीख नहीं, अधिकार चाहिए'। राज्यपाल की सीख पर स्वीकृति में सिर हिलाने वाले भारतीय राष्ट्रीय छात्र संगठन (एनएसयूआई) का नारा है 'पढ़ो और पढ़ने दो!'

छात्र संगठनों के नारों पर उनके पितृ राजनीतिक दलों से सरोकारों की झलक भी साफ देखी जा सकती है। एबीवीपी अगर हिमाचल में कश्मीर राग अलापते हुए कहती है कि 'जहां हुए बलिदान मुखर्जी वह कश्मीर हमारा है' तो वह भारतीय जनता पार्टी के सांप्रदायिक एजेंडे का समर्थन कर रही होती है। इसी तरह एनएसयूआई का नारा 'गर्व से कहो हम भारतीय हैं' बताता है कि कांग्रेस पार्टी पारंपरिक रूप से राष्ट्रवादी है।

एसएफआई के नारे 'दम है तेरे दमन में कितना, देख लिया है, देखेंगे', में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का सत्ता विरोधी स्वभाव स्पष्ट झलकता है।

उत्तर भारत की राजनीति के प्रमुख विश्लेषकों में से एक, प्रेमकुमार मणि ने अपने एक लेख में लिखा है कि 'किसी देश या प्रदेश के राजनीतिक मिजाज का

पता इससे नहीं चलता कि वहां किस पार्टी की हुकूमत है, बल्कि इस बात से चलता है कि वहां किस तरह के नारे गूंज रहे हैं।' उनकी यह बात यूनिवर्सिटी और कॉलेज परिसरों पर भी लागू होती है।

(दैनिक भास्कर, 13 अगस्त, 2005)

राष्ट्रीय संस्कृति जैसी कोई चीज नहीं होती

'संस्कृति' एक ऐसा मसला है, जिस पर हर कोई कुछ-न-कुछ बोलता नजर आता है। कोई इसे धर्म से जोड़ता है, तो कई ऐसे भी हैं जो 'सभ्यता-संस्कृति' जैसे शब्द युग्म का प्रयोग इस प्रकार करते हैं; जैसे दोनों समानार्थी हों। बेढंगे नाच-गानों को भी संस्कृति करार देने वाले बहुतेरे हैं। हिमाचल के संदर्भ में देखें, तो स्थानीय पत्रकारिता भी लगातार इस पर अपनी मुहर लगाती रहती है। लेकिन, वास्तव में किसी समाज की संस्कृति क्या होती है, संस्कृति की मूल अवधारणा क्या है? किसी व्यवहार विशेष का 'संस्कृति' होना किन विशेषताओं पर निर्भर करता है या किस प्रकार यह धर्म और परंपरा का समानार्थी नहीं है। इन बातों को जानना चाहें, तो नई दिल्ली से प्रकाशित 'कथन' का नया अप्रैल-जून, 05 अंक सहयोगी दस्तावेज साबित होगा।

'कथन' हर उस व्यक्ति के लिए एक जरूरी पत्रिका है, जो अपनी वैचारिक खुराक के लिए हिंदी पर निर्भर है। दिल्ली से प्रकाशित होने वाली इस साहित्य और संस्कृति की त्रैमासिक पत्रिका का हर अंक किसी विशेष विषय पर अनूठी सामग्री के साथ आता है। नए अंक में संस्कृति और व्यावसायिकता पर विशेष सामग्री है।

इस अंक में संस्कृति और व्यावसायिकता के मुद्दे पर प्रख्यात चिंतक एजाज अहमद से पत्रिका के संपादक कथाकार रमेश उपाध्याय की लंबी बातचीत प्रकाशित है। एजाज अहमद कहते हैं कि 'सभ्यता और संस्कृति अलग-अलग चीजें हैं और दोनों में जो फर्क है, वह ऊंच-नीच या निम्न वर्ग से संबंधित होने का नहीं है। कई लोग समझते हैं कि सभ्यता भौतिक होती है और संस्कृति अभौतिक या आध्यात्मिक। मेरे विचार से संस्कृति कहीं ज्यादा भौतिक होती है। वह सभ्यता की तुलना में कहीं ज्यादा तेजी से बदलने वाली चीज है। संस्कृति दुनिया में जो कुछ होता है, उसको अर्थ देने या उसको समझने-समझाने का नाम है और दुनिया

लगातार बड़ी तेजी से बदलती रहती है। उसमें घटनाएं बड़ी तेजी से घटती हैं। नई-नई चीजें बड़ी तेजी से आती रहती हैं। उनको समझना या उनमें से अर्थ पैदा करना तभी संभव है जब संस्कृति कोई जड़ चीज न होकर गतिशील चीज हो और उसमें नई-नई चीजों को ग्रहण करने की क्षमता हो। इस नजर से देखें तो संस्कृति कभी कोई शुद्ध चीज नहीं होती। वह किसी देश या राष्ट्र की सबसे अलग बहुत खास चीज नहीं होती। दुनिया की दूसरी संस्कृतियों के साथ उसका लेन-देन चलता रहता है। इसलिए इस बात में मुझे पूरा शक है कि 'राष्ट्रीय संस्कृति' जैसी कोई चीज होती है। मसलन, 'भारतीय संस्कृति' कहने से ऐसा लगता है, जैसे पूरे देश में कोई एक संस्कृति है, जबकि वास्तव में यहां सैकड़ों संस्कृतियां हैं।'

कथन के इस अंक में परिचर्चा के अंतर्गत पूरनचंद जोशी, सुधीश पचौरी और अजय तिवारी की टिप्पणियां भी पठनीय हैं। संपादकीय में रमेश उपाध्याय ने 'बाजारवाद' की अवधारणा को स्पष्ट किया है। वह कहते हैं कि 'बाजारवाद आज के नवउदारवादी पूंजीवाद की वह विचारधारा है, जिसके अनुसार अर्थव्यवस्था में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए और सब कुछ बाजार पर छोड़ देना चाहिए।' इसके अतिरिक्त संपादकीय में अंग्रेजी के शब्द 'कमर्शियल' और 'प्रोफेशनल' को लेकर जो आपत्तियां की गई हैं, व उन हिंदूवादी पत्रकारों के लिए आंखें खोल देने वाला है जो 'प्रोफेशनलिज्म' के नाम पर दरअसल 'बाजारू' पत्रकारिता में संलग्न हैं।

रमेश उपाध्याय बताते हैं कि 'चैंबर्स डिक्शनरी के अनुसार 'प्रोफेशनल' वह व्यक्ति है, जो अपने 'प्रोफेशन' अर्थात् पेशे या व्यवसाय में दक्ष होता है और उसी पेशे या व्यवसाय में लगे 'अमेच्योर' (शौकिया, अनाड़ी, अदक्ष) लोगों से भिन्न अपनी दक्षता या कार्यकुशलता के बल पर सम्मानपूर्वक पैसा कमाता है। जबकि 'बाजारू' किसी क्षेत्र का वह व्यक्ति है जो कम से कम लागत में अधिक-से-अधिक मुनाफा कमाने के लिए कोई घटिया वस्तु या सेवा बेचता है। उसकी तुलना बाजार में बैठे उस दुकानदार से की जा सकती है, जो मौका देखता है, मीठी-मीठी बातें करता है और घटिया माल को बढ़िया बताकर ग्राहक को भेड़ देता है और इस प्रकार ग्राहक को मूर्ख बनाकर लूटने में कोई शर्म या संकोच नहीं करता, बल्कि इसे अपनी व्यापारिक बुद्धि की सफलता मानकर खुश होता है। जानकार लोग उसकी बेईमानी पर लानत बरसाते हैं, तो वह शर्मिंदा होने के बजाय गर्व से कहता है कि वह कोई धर्मादा खोलकर नहीं, बल्कि दुकान खोलकर धंधा करने बैठा है।'

(ग्राम परिवेश, 08-14 मई, 2005)

साहित्यिक पत्रकारिता

समाचार पत्रों में भले ही संपादक पद का क्षरण हो गया हो, लेकिन हिंदी की साहित्यिक पत्रिकाओं का केंद्रीय पात्र आज भी संपादक ही होता है। पहले के मुकाबले इधर यह केंद्रीकरण और बढ़ा ही है, पहले साहित्यिक पत्रिकाएं संपादक के अतिरिक्त प्रकाशक और संबद्ध लेखकों के नामों से भी पहचानी जाती थीं। आज अधिकांश साहित्यिक पत्रिकाएं 'प्रकाशक' के नामक के प्राणी से तो सर्वथा मुक्त हैं ही और जिनके प्रकाशक हैं भी वे भी इसे 'खैरात' कोटे का ही काम मानते हैं।

पत्रकारिता जिस तरह 'मिशन' के स्थान पर प्रोफेशन बन गई, उसी तरह साहित्यिक पत्रिकाओं में भी एक बड़ा परिवर्तन आया। मध्य वर्ग की वैचारिक खुराक के स्थान पर यह लगभग स्वांत सुखाय एक जुनून बन गई। वह सूक्ति याद आती है 'अति सर्वत्र वर्जयेत्।' अति व्यवसायिकता ने जितना नुकसान अखबारी पत्रकारिता को पहुंचाया, उतना ही नुकसान साहित्यिक पत्रिकाओं को बाजार से पूर्ण मुक्ति के प्रयासों ने भी पहुंचाया। स्थिति यह है कि लगभग तमाम साहित्यिक पत्रिकाएं एक किस्म की संपादकीय तानाशाही से ग्रस्त हैं। पूरी पत्रिका पर संपादक का व्यक्तित्व हावी रहता है। कई लोग इसे अच्छी बात भी मानते हैं। संपादक के नाम प्रशंसा पत्रों में भी यह बात होती है कि 'बधाई, पत्रिका में आपका व्यक्तित्व निखरकर सामने आ रहा है...'। 'ग्राम-परिवेश' के साप्ताहिक परिशिष्ट 'साहित्य विमर्श' के संपादन के दौरान ऐसे कुछ पत्र मुझे भी मिले। हालांकि, मेरे लिए यह ठीक-ठीक तय कर पाना कठिन है कि मेरा व्यक्तित्व इन कुछ पन्नों में कितना दिखता है। लेकिन यदि वह 'निखरकर' आ रहा है तो गलत ही है। संपादन अपना व्यक्तित्व 'निखारने' का माध्यम नहीं है।

संपादक का काम यह है कि प्रकाशित रचनाओं की प्रस्तुति इतनी बेहतर हो कि वे आलोकिक होकर पाठकों को आकृष्ट कर सकें। अंततोगत्वा संपादन भी एक रचनात्मक कार्य है। इसकी सफलता भी इसी बात पर निर्भर करती है कि परदे के पीछे बैठा व्यक्ति बिना दिखे कितनी नई जमीन तोड़ पाता है।

(ग्राम परिवेश, 7 जून, 2005)

अपनी पीढ़ी से

वह पीढ़ी जिसकी वैचारिक संरचना 1990 के आसपास वैश्विक परिदृश्य में हुए परिवर्तनों के बाद निर्मित हुई है, उसकी सोच में बहुत कुछ नया है। इस दौरान हुए तेज रफ्तार परिवर्तनों को उनके जमीनी यथार्थ बोध के साथ पकड़ पाने में पुरानी पीढ़ी प्रायः असफल रही है। सोवियत ब्लॉक के पतन के बाद साहित्यिक परिदृश्य में पहले हताशा आई उसके बाद पिछले कुछ वर्षों से विश्वासघातों का दौर शुरू हो गया। ये विश्वासघात सिर्फ वैचारिक चोगा बदलने तक ही सीमित नहीं है। बल्कि ये पाठकों के साथ-साथ साहित्य में आने वाली नई पीढ़ी को दिग्भ्रमित करने के प्रयास तक में सामने आए हैं। संस्मरण और आत्मकथा को केंद्रीय विधा बनाने के लिए एड़ी चोटी एक करना, स्त्री विमर्श के नाम पर देह-भोग की गाथाएं और कथित वैचारिक नएपन के नाम पर नित-नूतन वैचारिक विलासों का प्रचार, इसके उदाहरण हैं।

स्वतःस्फूर्त रूप से सामने आए दलित साहित्य को भी इन्होंने अपनी बौद्धिक जुगाली के लिए हड़प लिया है और भीतर-भीतर इसकी जड़ें काटने में लगे हैं। ऐसे में आशा का स्वाभाविक स्रोत नई पीढ़ी या दूसरे शब्दों में कहूं तो मेरी अपनी पीढ़ी ही है।

किसी भी कला के पीछे युगों-युगों की परंपरा होती है, आप अपने वरिष्ठों द्वारा वर्षों के अभ्यास से विकसित कलात्मक, शिल्पगत प्रयोगों को आत्मसात तो करें, लेकिन अनुकरण न करें। उससे आगे कदम बढ़ाकर ही आप अपना निर्माण करेंगे। बल्कि कहना चाहिए कि अति तेज रफ्तार से बदलते यथार्थ को पकड़ने के लिए आपको 'छलांग' लेनी पड़ेगी, तभी आप 'प्रासंगिक' हो सकेंगे और उस पाठक वर्ग को भी जोड़ सकेंगे, जिसे पुरानी पीढ़ी ने लट्ठ मार-मारकर दूर खदेड़ दिया है। कहने का अर्थ यह कि पुरानी पीढ़ी की कलात्मक समझ का लाभ जरूर लें, लेकिन उनके लिए उनकी सराहना के लोभ से वशीभूत हो एक भी शब्द अपनी रचना में रखने से बचें।

(ग्राम परिवेश, 1-7 फरवरी, 2005)

मीडिया और मुस्लिम

कभी साहित्य समाज का आईना हुआ करता था, अब यह 'दस्तावेज' मात्र रह गया है। पुस्तकालयों में सरकारी गोदामों में पड़ा दस्तावेज। आज आपको अगर समाज का प्रतिबिंब देखना है, तो अन्य संचार माध्यमों की शहर में जाना पड़ेगा। टीवी पर यह प्रतिबिंब क्षणजीवी होता है, जबकि अखबारों में जरा स्थायी।

इस क्रम में भारतीय मीडिया से प्रसारित प्रतिबिंबों पर नजर डालना एक खौफनाक अनुभव है। ये प्रतिबिंब बताते हैं कि हमारे देश में द्वितीय विश्वयुद्ध पूर्व के जर्मनी के हालात बनते जा रहे हैं।

यहूदियों की ही तरह हमारे देश में मुस्लिमों को हाशिये पर धकेला जा रहा है। एक पूरी जाति ही आतंक में जीने और अलगाव झेलने के लिए विवश की जा रही है। आप किसी भी दिन का अखबार उठाएं, तो आपको भारतीय समाज (या कहें बहुसंख्यक समाज) में बढ़ती इस प्रवृत्ति की छाया मिल जाएगी। उदाहरणस्वरूप, कल (दिनांक 6 मई, 03) के अमर उजाला को ही लें। इसके पहले पृष्ठ पर ही अमेरिका और बुश का विरोध करते प्रदर्शनकारियों की तस्वीर है।

किंतु, हैरतअंगेज रूप से इसकी कैप्शन है—'जार्ज बुश का विरोध करते मुस्लिम'। किसी देश की गलत नीतियों का विरोध करने वाले 'मुस्लिम' कैसे हो सकते हैं। क्या वे महज अमेरिका का विरोध-प्रदर्शन करते 'लोग' नहीं हैं? क्या आपने कभी यह पढ़ा है कि पाकिस्तान का विरोध करते 'हिंदू'? या कि 'हिंदुओं' ने मुशर्रफ का पुतला जलाया? तो फिर अमेरिका का विरोध करने वाले 'मुस्लिम' कैसे हो गए!

यह कैप्शन सिर्फ समाज का आईना ही नहीं दिखा रहा। यह भी बता रहा है कि हमारे मीडियाकर्मियों के अवचेतन तक में सांप्रदायिकता किस कदर घुस चुकी है।

(भारतेन्दु शिखर, 7 मई, 2003)

खण्ड 5

मौखिक-इतिहास

हिमाचल प्रदेश के दुर्गम क्षेत्रों में कई ऐसी आबादियां हैं, जिनकी समाज-व्यवस्था व संस्कृति दुनिया के अन्य हिस्सों से अलग है।

ये इलाके हाल-हाल तक भारी बर्फबारी के कारण साल में आठ महीने तक दुनिया के अन्य हिस्सों से कटे रहते थे। इनमें किन्नौर जिला, लाहौल-स्पीति जिला व चम्बा के पांगी क्षेत्र मुख्य हैं। ये मुख्यतः बौद्ध धर्म के महायान पंथ का इलाका है, लेकिन साथ ही आदि-काल से चला आ रहा देवतावाद भी यहां उतना ही प्रभावी है। यह देवतावाद आधुनिक हिंदू धर्म से अलग है तथा हिमालय की विशिष्ट आदिवासी-परंपराओं का हिस्सा है।

इन सभी क्षेत्रों का जनजीवन महायानी लामाओं और आदि-देवताओं के चमत्कारों से लगभग समान रूप से संचालित होता रहा है। हालांकि, दोनों के बीच जनसामान्य को अधिकाधिक प्रभावित करने को लेकर आंतरिक तनाव भी रहे हैं। अब यहां बाजार की पीठ पर लदा आधुनिक हिंदुत्व भी पहुंच रहा है।

जून, 2017 और जुलाई, 2018 में मैंने इन क्षेत्रों की यात्रा की तथा दर्जनों स्थानीय लोगों से लंबी बातचीत की। ***मौखिक इतिहास*** *के इस खंड में उन्हीं में से* ***चार साक्षात्कार*** *दिए जा रहे हैं।*

आम लोगों की स्मृतियों में किस्सा, कहानी, मिथक, अंधविश्वासों के रूप में दर्ज बातें समाज-विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों में शोध के लिए एक सच्चा स्रोत होती हैं, जिनमें पुरानी और मौजूदा समाज-व्यवस्था के गूढ़-रहस्य और भविष्य के महत्वपूर्ण संकेत छिपे

रहते हैं। इस खंड की उपयोगिता इसी संदर्भ में है।

***पहली बातचीत** किन्नौर जिले के करला गांव के अमीर लामा से है। किन्नौर में बहु-पति प्रथा रही है। अमीर लामा के परिवार के पास प्राचीन महायानी कलाओं और कर्मकांडों की थाती है। इस बातचीत में अन्य चीजों के अतिरिक्त महायान के विश्वासों, वंचित समुदायों के प्रति उसके नजरिए तथा किन्नौर की बहु-पति प्रथा में स्त्रियों की दयनीय स्थिति का पता मिलता है।*

***दूसरी बातचीत** इसी गांव में बने जोमो गोम्पा (भिक्षुणियों के विशेष बौद्ध-मंदिर) में रह रहीं जोमो सुमार से है। इसमें भी महायान में भिक्षुणियों पर लगी पाबंदियों और कर्मकांडों की चर्चा है।*

***तीसरी बातचीत** लाहौल-स्पीति जिले के युवा पर्यटन-व्यवसायी विक्रम कटोच से है। इसमें अन्य तथ्यों के अतिरिक्त महायानी-परंपराओं पर आधुनिक हिंदुत्व के थोपे जाने तथा समावेशीकरण की कोशिशों का विवरण है; जिसे इस दुर्गम घाटी में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ सचेत रूप से अंजाम दे रहा है।*

अगर शेष भारत में चल रहे दलित-बहुजन प्रगतिशील आंदोलनों के अगुआ पहल करते, तो इन महायानी परंपराओं का रिश्ता डॉ. आम्बेडकर के नवयान से बनता, जो उसे आधुनिक विश्व-दृष्टि से जोड़ता और नवयान के संघर्षों को भी नए आयाम देता। लेकिन ऐसी कोई कोशिश अभी तक नहीं हो रही है।

***चौथी बातचीत** पांगी घाटी के अलग-अलग लोगों से की गई है। पांगी घाटी मानव-आबादी वाला हिमाचल प्रदेश का सबसे दुर्गम इलाका है, जहां पहुंचना आज भी कठिन है। यहां अनेक गांव ऐसी जगहों पर बसे हैं, जहां पहुंचने के लिए आज भी पूरे दिन की पैदल*

चढ़ाई चढ़नी होता है। यह प्रदेश का सबसे पिछड़ा इलाका भी है। इस बातचीत में यहां के जनजीवन व समाज-व्यवस्था का विवरण है।

इन साक्षात्कारों के विभिन्न अंशों में व्यक्त कुछ तथ्यों तथा दृष्टिकोण से असहमति के बावजूद मैंने इसे यहां यथासंभव असंपादित रूप में रखा है, ताकि आगामी अध्येताओं और शोधार्थियों को सामग्री यथावत् प्राप्त हो।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आप सुधी पाठक प्रश्नों और उत्तरों के बीच पसरी भावनाओं और निहितार्थों को पकड़ने में सक्षम हैं, तथा मुझे विश्वास है कि इस मूल का स्वाद आपको 'संपादित' की तुलना में अधिक रुचिकर लगेगा।

—प्र. रं.

साक्षात्कार–1

किन्नौर में बौद्ध धर्म, जाति–प्रथा और राजनीति

[हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला से उत्तर-पूर्व में करीब 250 किलोमीटर दूर स्थित है 'किन्नौर'। बौद्ध धर्म यहां का मुख्य धर्म है, जिसका अनूठा संगम वहां की विशिष्ट प्राचीन देव-संस्कृति से हुआ था। दरअसल, यह देव-संस्कृति हिंदू धर्म का पर्याय नहीं है, बल्कि हिमालय के इस इलाके की विशिष्ट संस्कृति है।

जून, 2017 में मैंने सपरिवार किन्नौर और लाहौल-स्पीति की यात्रा की। लगभग 20 दिनों की इस यात्रा के इस दौरान हमने पाया कि हिंदूवादी संस्कृति सब कुछ लीलती जा रही है। दरअसल, हिंदूवाद और पश्चिमी संस्कृति का एक अजीब संगम कन्याकुमारी से लेकर इन ऊंची पर्वत श्रृंखलाओं तक फैल रहा है।

15 जून की सुबह हम वास्पा घाटी के छितकुल गांव से कानम जाने के लिए चले थे। लेकिन, रमणीय स्थलों पर समय बिताते हुए चलने के कारण शाम गहरी हो गई और हम रास्ता भटक गए। मैदानी लोगों के लिए इन दुर्गम पहाड़ों में देर रात कार ड्राइव करना मौत को दावत देने के समान है। गनीमत थी कि हमारे फोन चल रहे थे और हम किसी प्रकार दिल्ली यूनिवर्सिटी में बौद्ध धर्म पर शोध कर रहे लकी नेगी से संपर्क करने में सफल रहे। उनका घर उसी इलाके के एक छोटे से गांव करला में था। उन्होंने फोन से ही हमारा संपर्क अपने पिता से करवाया। हम देर रात हांफते-भयभीत करला पहुंचे। उस रात की कहानी अन्यत्र लिखूंगा।

इस यात्रा के दौरान हमने दर्जनों लोगों से लंबी गपशप की। इनमें से एक थे–किन्नौर के करला गांव के 'अमीर लामा'। लकी नेगी के दो पिताओं में से एक।

बौद्ध धर्म के अनुयायी अमीर लामा तीन भाई और पांच बहनें हैं। पिता

शरब होज़ेर गांव के सांगोपांग लामा एवं क्षेत्र के चर्चित व्यक्ति थे। यह परिवार किन्नौर की बहु-पति प्रथा का पालन करता रहा है। अमीर लामा व उनके एक बड़े भाई की भी साझा पत्नी धर्म जङ्मो हैं तथा साझा विवाह से उनके चार बच्चे हैं। इनके छोटे भाई बौद्ध भिक्षुक बन गए हैं। यह परिवार मध्य-हिमालय की प्राचीन परंपराओं व अनूठे स्थापत्य व कलाओं का भी वारिस है। स्वयं उनके घर में अनेक ऐसी बौद्ध-चित्राकृतियां व अन्य कलाकृतियां हैं, जिनकी उम्र संभवतः एक हजार वर्ष से अधिक की है। हमने इस परिवार के साथ दो दिन बिताए।

अमीर लामा स्थानीय स्तर पर सामाजिक और राजनीति रूप से सक्रिय हैं; लेकिन उनकी बातचीत में उस धूर्तता का अभाव है, जो प्रायः मैदानी इलाकों के समाजकर्मियों में होती है। लेकिन, उनके विचार रूढ़िवादी तथा शूद्रों और स्त्रियों के प्रति इतने प्रतिक्रियावादी हैं कि उन्हें सहन करना सामान्यतः कठिन था। लेकिन, भारतीय समाज के यथार्थ-अध्ययन के लिए इन्हें मूल रूप में ही जानना आवश्यक है।

इस खंड की बातचीत मैंने अपने मोबाइल कैमरे से रिकॉर्ड की थी, इन्हें सहकर्मी प्रेम बरेलवी ने लिप्यांतरित किया है तथा नवल किशोर कुमार ने सुपाठ्य बनाने के लिए संपादित किया है। दोनों का आभार!]

प्रमोद रंजन : आपका नाम क्या है?

अमीर लामा : मेरा नाम अमीर लामा है, जो मेरी माता जी ने रखा था। हालांकि, यहां बाहर से जो अध्यापक नियुक्त होकर आते हैं, वो यहां के लोगों के नामों का उच्चारण नहीं कर पाते हैं और अपनी सुविधा के लिए हममें से अधिकांश का नाम बदल देते हैं। जैसे किसी का नाम शिवङ है, तो कोई (बाहरी अध्यापक) शिवा बना देगा, कोई शिवम बना देगा। कइयों के नाम इस तरह से बदल दिए गए हैं।

प्र. रं. : मैंने एक किताब पढ़ी कृष्णनाथ की। वे 1967 में किन्नौर आए थे। उन्होंने इस पर विस्तार से लिखा है कि किन्नौर के अनेक लोगों ने उनसे शिकायत किया कि निचले इलाके में रहने वाले लोग अपनी जुबान (भाषा) नहीं बदल सकते; हमारा नाम बदल देते हैं।

अ. ला. : हां जी, हां जी; (जोर से हँसते हैं...)

प्र. रं. : आप लामा (बौद्धों के धार्मिक गुरु) हैं?

अ. ला. : हम राजपूत हैं।

प्र. रं. : क्या यहां राजपूतों को 'नेगी' भी कहते हैं? इस इलाके के समाज के बारे में बताएं।

अ. ला. : देखिए, सबसे पहले तो मैं आपको बताऊं कि मेरे इस गांव का नाम करला है, जो किन्नौर जिले के पूह तहसील में पड़ता है। यहां हरिजन और राजपूत; दो ही जातियां हैं। राजपूत नेगी होते हैं। हालांकि, अब तो सब लोगों ने नेगी लिखना शुरू कर दिया है। चाहे लोअर कास्ट के हैं, चाहे अपर कास्ट के, सब नेगी लिख रहे हैं।

प्र. रं. : आपको हरिजन नहीं दलित बोलना चाहिए। हरिजन शब्द एक बड़ी आबादी के लिए अपमानजनक है। वैसे, राजपूत जाति तो मैदानी इलाकों में होती है। किन्नौरी भाषा में कोई अलग नाम होगा न! वह नाम क्या है?

अ. ला. : हम लोगों की जाति कुंडस है। चमार जाति के लोगों को हम लोग बहरू बोलते हैं। जबकि अपनी भाषा में उन्हें चमङ (उच्चारण चमंग) बोलते हैं।

प्र. रं. : अपने गांव करला के बारे में बताएं।

अ. ला. : इस इलाके की आबादी करीब 600 है। हालांकि, मेरे गांव करला में कुल 16 घर हैं और आबादी करीब 80 है। किन्नौर के बारे में आप जानते होंगे कि हमारे जिले में कोई बाहरी आदमी जमीन नहीं ले सकता। यहां बस नहीं सकता। जो यहां के स्थानीय निवासी हैं, वे आपस में तो खरीद-बेच सकते हैं। लेकिन, जमीन है ही नहीं। आजकल कोई अपनी जमीन बेचने को तैयार ही नहीं होता। जैसे मुझे कोई एक करोड़ रुपए दे, तो भी मैं अपनी जमीन नहीं दूंगा। कौन देगा जमीन? आज इसकी वैल्यू है। वैसे भी हमारे गांव में अब जमीन बची ही नहीं है और गांव के बाहर घर बनाने लायक जमीन भी नहीं है। हमारे गांव में पानी की समस्या है। आज अगर हमारे गांव में पानी की सुविधा हो जाए, तो वैल्यू और बढ़ जाए। पानी की कमी के बावजूद हमारे यहां बहुत कुछ होता है। आलू, मटर, और भी सब्जियां; जो भी चाहें उगता है यहां। सब्जियों की यहां बहुत अच्छी कीमत मिलती है।

(इस बीच अमीर लामा एक तस्वीर दिखाते हैं...) यह नेगी लामा जी हैं। वे मूलतः रोपा वेली के सुन्नम गांव के रहने वाले थे, जिसे सुमनाम भी कहते हैं। यह मूलतः फुआल (पालस) थे।

प्र. रं. : फुआल कोई जाति होती है?

अ. ला. : नहीं, नहीं; फुआल मैं भी हो सकता हूं। फुआल बोलते हैं,

नेगी लामा (1894-1977) : तिब्बती के विद्वान लेखक और बौद्ध धर्म के प्रचारक

भेड़-बकरी चराने वालों को। फुआल कोई जाति नहीं होती। जो कोई भी व्यक्ति भेड़-बकरी चराता है, वह फुआल कहलाता है। यह एक पेशा है। यहां हम सबके

घरों में भेड़-बकरी होती ही होती हैं। घर का जो सदस्य भेड़-बकरी चराने जाएगा, उसको फुआल बोलते हैं। भेड़-बकरियों को आम आदमी नहीं चरा सकता। उसको उसका रूट (रास्ता, जिससे होकर भेड़-बकरियां घास के मैदानों में पहुंचती हैं) नहीं मालूम। तो यह (नेगी लामा) फुआल थे। इन्होंने पाप भी काफी किए। क्योंकि भेड़-बकरियों को खिलाना-पिलाना फिर उनको काट देना; उनका मांस खाना भी एक पाप है। एक दिन उन्हें अचानक विचार आया कि मैं यह क्या काम कर रहा हूं? इनको मैं पकड़कर ले जाता हूं। खिलाता-पिलाता हूं। तो क्या मेरा इन पर इतना अधिकार हो गया कि मैं इनकी हत्या भी कर सकता हूं? ये भेड़-बकरियां बात नहीं कर सकतीं, समझ तो सकती हैं। हमारी कोई उंगली भी काटे, तो कितना दर्द होता है। हम रोते हैं। कोई मरता है, तो रोते हैं। इन बेचारों के लिए कोई रोने वाला नहीं है। यह तो गलत बात है।

वे घर-बार छोड़कर के काशी चले गए। काशी में जाकर के उन्होंने गंगा के किनारे तपस्या की। तपस्या करने के बाद जगह-जगह जाकर धर्म की शिक्षा देने लगे। जो आज के दलाई लामा जी हैं, इनके शिष्य हैं। बुद्धिस्ट समाज में हम लोगों को खूनूपा बोला जाता हैं। वैसे खूनू किन्नौर को बोलते हैं। तिब्बती लोग हमें खुनूपा बोलते हैं। हमें जो इतनी इज्जत मिलती है, मात्र इनकी (नेगी लामा जी की) वजह से। तो आज की तारीख में इनका (नेगी लाम जी का) जन्म (पुनर्जन्म) हुआ है—डेनमार्क में।

प्र. रं. : ऐसा क्यों? विद्वान थे इसलिए? लोग इस पर विश्वास कैसे करते हैं?

अ. ला. : विद्वान थे; हां जी। विद्वान होने की वजह से इनका पुनर्जन्म हुआ है। तो बचपन में यह तोतला करके बोलते थे। दरअसल आज बड़े-बड़े लामा यह सब करते हैं। जिन्हें लामा बनाया जाना तय किया गया होता है, उनको वे अपने मठों में ले जाते हैं- वहां हजारों की संख्या में कुर्सियां लगी होती हैं। लामा बनने पर पैसा, खाना-पीना, इज्जत सब मिलता है। मैं भी अपने लड़के को लामा बना सकता हूं; यह कहकर कि यह भी लामा है। इसमें होता यह है कि उसे अपनी सीट को पहचानना पड़ेगा। वे उसे दरवाजे के अंदर छोड़ेंगे, उसके बाद वह अपनी सीट पर बैठेगा। सीट पर बैठने के बाद वह पुराने सामान को पकड़ेगा; उस टेबल पर जो है। जैसे—मेरी अंगूठी है, इसी के साथ दूसरी अंगूठी भी रखी जाएगी; तो उसे अंगूठी (नई अंगूठी) को साइड करना पड़ेगा। जो यह सब पहचान पाएगा; (यानी) पिछले जन्म का उनको सब कुछ ज्ञान होगा। इसी तरह से जब इनको (नेगी लामा जी को) इनके गांव सुन्नम में लाया गया; तो नए गेट को छोड़कर ये

पुराने गेट से गांव में गए। उसके बाद जो नाग देवता हैं, उस नाग देवता की पूजा की। पूजा करके अपने उनके जो-जो पुराने दोस्त थे, उनके पास जाकर उनसे मिले, गले लगाया। जबकि, उस समय तुतलाकर बात करते थे। लेकिन, इस तरह करके इन्होंने चमत्कार दिखाया।

प्र. रं. : इन्होंने किताबें भी लिखी हैं?

अ. ला. : इन्होंने तिब्बती भाषा (तिब्बतन) में बौद्ध धर्म पर कई किताबें भी लिखी हैं। किताबों के नाम याद नहीं... धम्म पद भी उन्हीं का है।

प्र. रं. : क्या यहां के लोग तिब्बती भाषा समझते हैं? क्या यहां स्कूलों में तिब्बती पढ़ाई जाती है?

अ. ला. : हां, तिब्बती भाषा कुछ लोग समझते हैं। जिस तरह से हिंदू धर्म पुराण वगैरह ये सब संस्कृत में हैं। उसी तरह हमारी सभी किताबें तिब्बती भाषा में हैं। मुझे यह भाषा आती है। लेकिन, आम आदमी नहीं जानते। वे धर्म ग्रंथ नहीं पढ़ सकते हैं। हमारे लोग तिब्बती बोलते भी नहीं हैं, समझते भी नहीं हैं। बौद्ध मठों में जाकर इसका अध्ययन करना पड़ता है। जैसे मेरे पिताजी हैं, वे काफी विद्वान हैं, तिब्बती पढ़कर आए हैं। वे गांव में कई लोगों को तिब्बती सिखा रहे हैं। यहां स्कूलों में भी तिब्बती नहीं पढ़ाई जाती है। अभी हम लोग शुरू करवाने की कोशिश कर रहे हैं। पिछले दिनों जब मैं अपनी पार्टी (भाजपा) के अल्पसंख्यक प्रकोष्ठ का जिलाध्यक्ष बना तो मैंने पार्टी और सरकारी महकमों की बैठकों में प्रस्ताव रखा कि हर शिक्षण संस्थान में पढ़ाई की एक भाषा तिब्बती होनी चाहिए। अभी तो स्कूलों में सिर्फ हिंदी और इंग्लिश पढ़ाई जाती हैं। किन्नौरवासियों की अपनी कोई भाषा नहीं है। हमारी बोली है। उसे किन्नौरी कहते हैं।

प्र. रं. : यहां ऐसे लोग हैं, जो तिब्बती भाषा बोलते हों?

अ. ला. : हां, काफी लोग हैं। वे मंत्र जपना, मणि (माला) फेरना आदि करते हैं। यह तो हर आदमी कुछ न कुछ तिब्बती भाषा में बोलता ही बोलता है। जैसे जब कोई मंदिर जाता है तब। यहां तक कि रात में चलने पर डर लग रहा है तो लोग–'ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा ताराधारणी' बोलते हैं। यह मंजूश्री का मंत्र है। यह मंत्र पढ़ने से जिसको बच्चा नहीं होता, उसको बच्चा होता है। जिसको धन की प्राप्ति नहीं होती है, उसको धन की प्राप्ति होती है। कहीं भूत-प्रेत हो, तो भूत-प्रेत भी भाग जाता है। स्वर्ग का रास्ता भी ये मंजूश्री ही दिखाते हैं।

प्र. रं. : किन्नौर का एक आम आदमी या परिवार दिन में किस तरह से पूजा-पाठ करता है? रोज पाठ करता है, या नहीं करता है?

अ. ला. : रोज तो करते ही करते हैं। सुबह की पोथी होती है, वह पढ़नी-ही-पढ़नी पड़ती है।

प्र. रं. : लेकिन सामान्य लोगो को तो तिब्बती आती नहीं है, पढ़ेंगे कैसे?

अ. ला. : जैसे हिंदुओं में कुछ मंत्र होते हैं। जैसे–राम-राम बोलना होता है, तो आम आदमी राम राम नहीं पढ़ सकता है। सुबह उठता है, तो विचार करता है। क्या सोचता है? पैसे के लिए सोचता है। इसी तरह हमारे धर्म के भी आम आदमी हैं। मेरे परिवार में ही मेरे पिताजी हैं, मैं हूं, मेरी लड़की है; तो हम दो-चार लोग वह पूजा-पाठ करते हैं। बाकी फैमिली के लोग नहीं करते।

प्र. रं. : अभी आपने जो माला पहनी हुई है, उससे कौन-से मंत्र जपते हैं?

अ. ला. : कई तरह के मंत्र जपता रहता हूं मैं... 'ॐ भद्रा पनि हया गृपा गरूड हुङ फट', 'ॐ मणिपद्मे हूं अरपचन हृदयमंत्र', 'ॐ अरपचन धीः मञ्जुघोष अरपचन हृदयमंत्र', 'ॐ तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा ताराधारणी', 'लामा ला क्यबसू छे, सङ्गस ला क्यूबसु छे', 'छोई ला क्यूबसु छे', 'गेदुन ला क्यबसु छे...' मतलब 'बुद्धं शरणम् गच्छामि, धम्मं शरणम् गच्छामि, संघम् शरणम् गच्छामि'। इस तरह के कई मंत्र हैं।

प्र. रं. : यह जो अंगूठी पहनी है आपने, इसे क्या बोलते हैं?

अ. ला. : यह गुरु पद्म संभव जी के रूप में है। हमारे यहां इसे दोरजे बोलते हैं।

प्र. रं. : आप ग्रहों को मानते हैं?

अ. ला. : नहीं! नहीं!! ग्रहों को नहीं मानते।

प्र. रं. : जो नीचे (मैदानी इलाकों में) बौद्ध धर्म है, जैसे–राजगीर और बोधगया में जो बौद्ध धर्म है और आपके इधर किन्नौर में बौद्ध धर्म है; उसमें क्या अंतर है?

अ. ला. : वो लोग हीनयान के हैं। हम लोग महायान के हैं।

प्र. रं. : क्या अंतर है हीनयान और महायान में?

अ. ला. : अंतर यही है कि वे लोग कर्मकांड को नहीं मानते, हम लोग मानते हैं।

प्र. रं. : आपकी नजर में कर्मकांड अच्छा है?

अ. ला. : हम लोग कर्मकांड करते हैं। कर्मकांड अच्छा है, करना चाहिए। हालांकि, कई बार हम भी दुविधा में पड़ जाते हैं। लेकिन एक बात तो है कि गृहस्थ जीवन में रहने पर कर्मकांड से कई बार हम लोगों को सुख मिलता है। तो

इसलिए हम सोचते हैं कि मानना चाहिए। लेकिन जिस तरह मेरे गुरु जी कहते हैं, उस हिसाब से हमारे धर्म में कर्मकांड को बिलकुल नहीं माना गया है।

प्र. रं. : आपके गुरु जी के हिसाब से?

अ. ला. : हां, मेरे गुरु जी के मुताबिक तो कर्मकांड को मानना ही नहीं है। उनके हिसाब से तो मैं जो यह माला से मंत्र जपता हूं; यह भी नहीं करना चाहिए। वे तो कहते हैं कि आप मेडिटेशन करते जाओ और वर्तमान में जीओ। खाना खा रहे हो, तब यह कि मैं खाना खा रहा हूं, तब क्या आपके दिल में संवेदना हो रही है; उस संवेदना को देखकर महसूस करो। और अनित्य का बोध करो और जीओ।

प्र. रं. : डॉ. आंबेडकर ने जो धर्म परिवर्तन किया, उसको किस तरह देखते हैं आप? क्योंकि जब उन्होंने लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म अपनाया, उसके बाद तो भारत में बड़ी संख्या में लोग बौद्ध बने हैं। अभी भी दलित, ओबीसी तबकों के लोग बौद्ध बन रहे हैं। इस पर आप क्या कहेंगे?

अ. ला. : कुछ छुआछूत की वजह से भी लोग उसमें आए हैं। मैं तो मैं यह समझता हूं कि छुआछूत की वजह से ही उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाया। दूसरी, उनको भगवान बुद्ध की शिक्षाएं अच्छी लगी होंगी। क्योंकि, उन्होंने (भगवान बुद्ध ने) जबरदस्ती कहीं भी नहीं की है। भगवान बुद्ध ने कहा है कि एक बार देखो, सोचो, परखो उसके बाद ही तुम मेरे रास्ते पर चलो। तो जो पीछे से जुड़े हैं; ये चीजें भी शायद उनको अच्छी लगी होंगी। तो मैं तो यही समझता हूं कि जो अनपढ़ आदमी अपने समाज से टूट रहा है; तो इसका मुख्य कारण दलितों को यही लगा होगा कि हर धर्म में छुआछूत है, पर यहां (बौद्ध धर्म में) तो कोई छुआछूत नहीं है। मंदिर में आप खुलेआम जा सकते हैं; कोई रोक-टोक नहीं है। यहां पर (किन्नौर में) छुआछूत की बात करें, तो मैं तो यही कहूंगा कि यहां निचार बेल्ट (क्षेत्र), सांगला घाटी में या कुछ और जगहों पर आज ऐसा है कि जो चमार होंगे–आज तो उन्हें चमार बोलने का भी नहीं है। किसी ने उनका नाम रखा है कबीर तो, किसी ने कहा है–हरिजन। इस तरह जो भी है; -तो वे लोग जो हैं, मकान को भी छू नहीं सकते हैं। निचार बेल्ट या सांगला घाटी में या और जगह भी हैं; वहां तो ऐसा है कि सीढ़ियों से चढ़ना तो छोड़ो, मकान को छू भी नहीं सकते। तो उनलोगों को देवी-देवताओं के पूर्व कार्यक्रम में भी उनको दूर बैठकर के बजंतरी (संगीत के वाद्य-यंत्र) बजाने पड़ते हैं। तो बौद्ध धर्म में ऐसा कुछ नहीं है। बौद्ध धर्म के लोग तो साथ ही बिठाएंगे, खाएंगे-पीएंगे।

प्र. रं. : यही हालत तो इन ऊपरी इलाकों में भी है?

अ. ला. : यहां, जहां पर कट्टर (सच्चे) बुद्धिस्ट हैं; वहां ऐसी हालत नहीं है। जैसे यहां से पूह से ऊपर जाएंगे, वहां पर दलित आपके घर में आएंगे; साथ बैठेंगे। ये कुरीतियां हमारे यहां भी हैं। लेकिन, हमारे यहां उतनी ज्यादा नहीं है कि मकान को छू नहीं सकते। मकान से ऊपर नहीं आ सकते। खा-पी नहीं सकते। हां, बर्तन उनके अलग रखते हैं। (...इशारा करते हुए) यहां पर जो गिलास पड़े हैं अंदर, तो यह सब उन्हीं (दलितों) के लिए हैं।

प्र. रं. : ये गिलास अलग रखते हैं आप?

अ. ला. : हां, उनको अलग रखते हैं। शामिल नहीं करते हैं। वो लोग यहां आएंगे। मकान में जहां हम रहते हैं, वहां भी आएंगे घर में; बाहर भी बैठेंगे। लेकिन, निचार में और अल्फा में क्या है कि वो लोग जो पौड़ी (सीढ़ी) लगी होती है; पौड़ी से ऊपर नहीं आ सकते।

प्र. रं. : आप लोग इसको खत्म क्यों नहीं करते?

अ. ला. : मैं तो कर रहा हूं।

प्र. रं. : अच्छा आप कर रहे हैं, तो इसका विरोध भी होता होगा समाज में?

अ. ला. : हां, समाज में विरोध होता है। जब मैं जब चुनाव जीतकर प्रधान बना, तो मुझे हरिजनों का प्रधान कहा गया। मैंने छुआछूत को खत्म करके... मेरा तो एक मकसद यह था कि... हम राजनीति में हैं, चाहे भाजपा आए या कांग्रेस आए -जो हम सक्षम लोग हैं; हमारे को काम निकालने में कोई टेंशन नहीं है। हम अपना काम निकाल लेंगे- चाहे नाते-रिश्ते की वजह से या पहुंच की वजह से। लेकिन, बेचारा गरीब आदमी ऐसा होता है कि (अगर उसने) कांग्रेस को पकड़ा और भाजपा का राज आया, तो भाजपा वाले उसे तंग करेंगे। अगर भाजपा को पकड़कर बैठा है और कांग्रेस का राज आएगा, तो कांग्रेस वाले तंग करेंगे। बेचारे बड़े तंग होते हैं। ब्यूरोक्रेसी में उनकी पकड़ नहीं होती। तो मैं जब प्रधान बना, तो उनकी मदद की। पहले हाउसिंग सब्सिडी जीवन में एक बार मिलती थी। मैंने उनको तीन-तीन बार हाउसिंग सब्सिडी दिलाई। मैंने कहा कि वे भी हमारे बराबर पहुंचें। उनका मकान तो ठीक हो! तो इस तरह से हमने किया उनके लिए।

प्र. रं. : एक चीज मैंने महसूस की। हालांकि यहां मुझे दिशाओं का भान ठीक से नहीं हो रहा। वह जो गांव था कानम, वहां मैं दलित बस्ती में गया। क्या दक्षिण की तरफ है वह? मैं जानना चाह रहा हूं कि उत्तर भारत में दलित बस्तियां प्रायः दक्षिण में होती हैं। कानम गांव है ऊपर की तरफ, नीचे दलित बस्ती है। तो

क्या यहां भी दलित बस्तियां दक्षिण की तरफ होती हैं?

अ. ला. : कानम में जो दलित बसे हैं, वह पूरब साइड में है। हमारे यहां ऐसा कुछ नहीं है कि दक्षिण में ही दलित को बसाना है। जहां जगह है, बसे हैं। हमारे यहां पर पूरब-पश्चिम-दक्षिण का कोई रोल नहीं है। कानम में तो मैं आपको इतना तक बता दूं कि जहां पर अपर कास्ट के लोग हैं, तो उन्हीं के बीच में अब कुछ दलितों के घर भी हैं। इसमें भी दलितों में दो प्रकार के दलित हैं। एक कारपेंटर टाइप के हैं, उनको भी हम दलित मानते हैं। एक जो आपके जुलाहा, जिन्हें यहां हम चमङ बोलते हैं।

प्र. रं. : जो कारपेंटर है, लोहार और बढ़ई हैं; वे ओबीसी में आते हैं?

अ. ला. : हां, ओबीसी में आते हैं।

प्र. रं. : और चमङ जो हैं, वो अनुसूचित जाति में आते हैं?

अ. ला. : मैंने बोला कि हमारे यहां सामाजिक रूप से एक ही हैं। लेकिन, वह लोग आपस में एक-दूसरे के घर का खाना तक नहीं खाते हैं। बुनकर के यहां लोहार नहीं खाते; लोहार के यहां बुनकर नहीं खाते हैं। बुनकर बोलते हैं कि लोहार जाति हमारे से छोटी जाति है; और जो लोहार है, वह उनको छोटा बोलता है।

प्र. रं. : लोहार और बढ़ई एक-दूसरे का खाना खाते हैं?

अ. ला. : हां, वो लोग तो खा लेते हैं। चमङ (जुलाहा या बुनकर) और लोहार नहीं खाते हैं एक-दूसरे के यहां। लोहार और बढ़ई जो हैं, वे आपस में एक-दूसरे को एक मानते हैं।

प्र. रं. : नेपालियों के बारे में बताइए; नेपाली लोग इतनी बड़ी संख्या में यहां कैसे आए? दूसरा सवाल यह कि मुझे लोगों ने बताया कि जबसे यहां समृद्धि बढ़ी है, पैसा बढ़ा है। जो लोकल लोग हैं, उन्होंने काम करना बंद कर दिया। वहीं, आपका गांव हो, चाहे दूसरा गांव, यहां गांवों की गलियां पूरी तरह सुनसान रहती हैं; कोई भी आदमी नहीं दिखता है। एक चीज और मैंने यह गौर की कि जो राजपूतों का इलाका है, वहां नेपाली बड़ी संख्या में हैं। लेकिन, जो दलितों का इलाका है, नहीं है।

अ. ला. : नेपालियों के आने के कारण तो कई हैं। पहले तो हम लोग जो हैं बिलासपुर मंडी में काम करने जाते थे। तब यहां रोड नहीं था। सेब के बाग नहीं थे। बादाम नहीं होते थे। इनकम का सोर्स नहीं था। तब तो हम लोग नीचे जाते थे। कुछ बादाम और सेब थे, वे नीचे की ओर होते थे; कम होते थे और वो

बिकते नहीं थे। आज भी नेपाल में मैंने देखा कि झुमला वैली में जो है, हमारे जैसा ही सब होता है। रोड नहीं होने की वजह से वहां के लोग ज्यादा मजदूरी के लिए यहां आते हैं, वे बड़े मेहनती हैं। पैदल जाना पड़ता है... जाते हैं। यहां भी बहुत अच्छा काम करते हैं। तो हम लोग भी उनकी तरह जाते थे। मगर, आज सक्षम हो गए हैं हम लोग; तो काम करना हमने छोड़ दिया है। इस तरह नेपाली यहां बड़ी संख्या में आने लगे। गलियां सुनसान रहने का कारण यह है कि हम लोग भी 24 घंटे व्यस्त रहते हैं। काम में मजदूर लगे होते हैं, तो मजदूरों के पीछे जाना पड़ता है; काम करना पड़ता है। काम नहीं करते हैं, तो क्या मजदूर के साथ में तो रहते हैं। काम कराते हैं। किसानी का काम तो करते ही करते हैं। पढ़ाई के लिए हमारे ज्यादातर बच्चे दूसरे शहरों में हैं।

प्र. रं. : बिहार के लोग भी मजदूरी करने आते हैं यहां? क्या वे लोग काम कर पाते हैं, पहाड़ों में?

अ. ला. : बिहारी आते हैं। वो लोग बिल्डिंग वगैरह में काम कर लेते हैं। खेत व बागानों में नेपाली काम करते हैं।

प्र. रं. : जो किन्नौर के स्थानीय दलित लोग हैं, वे भी नेपालियों को काम करवाने के लिए रखते हैं या खुद काम करते हैं?

अ. ला. : जो सक्षम हैं, वे नेपालियों को रखते हैं; जो सक्षम नहीं हैं, वे खुद काम करते हैं। कई दलित तो ऐसे हैं, जैसे एक हार्डवेयर वाला है, दलित समाज से आता है। मगर, उसके पास इतना पैसा है कि घर बैठे काम करता है। सरकारी नौकरी में था। उसके पास तीन-चार गाड़ियां हैं। ऐसे लोग भी हैं, जो सक्षम हैं। वे भी नेपालियों को मजदूरी और नौकरी पर रखते हैं।

प्र. रं. : राजपूतों में लगभग सभी लोग नेपालियों को नौकरी पर रखते हैं?

अ. ला. : नहीं, ऐसा नहीं है। राजपूतों में भी सब एक बराबर के नहीं हैं। कुछ गरीब भी हैं, जो लेबर नहीं रख सकते हैं। लेकिन, थोड़े कम हैं। कुछ हमारी जाति के लोग हैं, जो मजदूरी भी करते हैं। जैसे हमारे पड़ोसी हैं, वे लोग हमारे यहां काम करने आते हैं। सारे सक्षम नहीं है।

प्र. रं. : अच्छा, अब यह बताएं कि यहां ये जो छोटे-बड़े बौद्ध स्तूप बने हैं, इनका क्या महत्व है?

अ. ला. : यह लंबी उम्र जीने के लिए बनाए जाते हैं। (एक बड़े स्तूप की ओर इशारा करते हुए) यह बड़ा वाला हमारे परिवार का है और छोटे-छोटे जो हैं, वे दूसरे गांव वालों के हैं।

कपड़ों से ढके ण्छोक्कन

प्र. रं. : तो यह क्या अलग-अलग घर के होते हैं? मतलब अलग-अलग घरों के बनाए हुए होते हैं? क्या इसमें कुछ होता है अंदर?

अ. ला. : हां, होते भी हैं। कुछ के सम्मिलत होते हैं। इसके अंदर पोथी, सोना-चांदी होता है। जो जितना सक्षम होता है, उतना बड़ा स्तूप बनाता है और उतना ही रखता है, इसके अंदर। मेरे घर वाले ज्यादा सक्षम रहे होंगे, तो मेरे घर वालों ने बड़ा स्तूप बनाया हुआ है। तो स्तूप बनाने के बाद हमारे लोग काफी लंबी आयु जीने लगे, पहले बहुत कम उम्र तक जीते थे।

प्र. रं. : यह कितने साल पहले की बात होगी? क्या यहां पूजा भी होती है?

अ. ला. : इसकी कोई हिस्ट्री तो है नहीं, हजारों साल का है। गुरु लोग बताते हैं कि बहुत पुराना है। यह (एक बड़े स्तूप पर हाथ रखते हुए) सौ साल से भी ऊपर का है। हां, यहां पूजा भी होती है। पूर्णमासी के दिन दीपक जलाना है; वह करते रहते हैं। सब लोग हर पूर्णमासी को दीपक जलाते हैं।

प्र. रं. : बौद्ध मंदिर को यहां क्या कहते हैं?

अ. ला. : गोम्पा कहते हैं।

प्र. रं. : ये जो जोमो मंदिर हैं, वो भी गोम्पा कहलाएंगे या कुछ और?

अ. ला. : गोम्पा ही कहलाते हैं। महिलाओं वाले को जोमो गोम्पा कहते हैं।

प्र. रं. : और एक जो घूमने वाला प्रार्थना चक्र होता है, उसको क्या बोलते हैं?

अ. ला. : उसको दुङ्ज्ञुर बोलते हैं।

प्र. रं. : और भी आपके गांव में मंदिर है, जो स्तूप के जैसे हैं। उन्हें क्या बोलते हैं?

अ. ला. : उन्हें भी छोक्कन बोलते हैं।

प्र. रं. : उसका क्या उपयोग होता है?

अ. ला. : वह अच्छाई के लिए बनाया होता है। आदमी के मरने के बाद उसका अच्छा हो। कोई क्रिया-कर्म नहीं कर पाए, कुछ न कर पाए। तो वह जो है, उसी स्थिति में बनाया जाता है। इसमें एक तो आदमी मरने के बाद बनाया जाता है, जिसमें उसके हाथ की अंगूठी और कड़े आदि के अलावा उसके द्वारा उपयोग में लाया जाने वाला कोई अच्छा सामान उनको लगाकर बनाते हैं। और जो जीते-जी बनाया जाता है। वो भविष्य की अच्छाई के लिए बनाया जाता है।

अ. ला. : (अपने घर के इतिहास के बारे में बताते हुए अमीर लामा कहते हैं...)

हमारे यहां पहले एक मुख्य दरवाजा होता था घर का। उस दरवाजे को खोलते समय उसकी आवाज आठ किलोमीटर दूर तक सुनाई देती थी। एक दिन अचानक रात को आग लग गई। उस समय मकान में छोटी-सी एक खिड़की होती थी। इतनी छोटी कि उससे बाहर नहीं निकल सकते थे। रात को सभी परिवार वाले सोए हुए थे। आग कैसे लगी? मेरी परदादी जी एक रात को जागकर कुछ काम कर रही थीं। उसी समय आधी रात को घर में एक सांप प्रकट हुआ। सांप से दादी ने पूछा कि कौन है तू? अगर तू राक्षस है, तो मैं तुम्हें मार दूंगी; और अगर भगवान हो, तो आप यहां से चले जाओ, मैं आपको भेंट चढ़ाऊंगी। इतनी बात कहते ही वह सांप गायब हो गया। लेकिन, उसके जाते ही घर में आग लग गई। दादी आग देखकर घबरा गईं। अकेली इधर-उधर दौड़ने लगीं। तब दादी जी ने सोचा कि सब खत्म हो रहे हैं, तो उसने छत पर चढ़कर सबको बचाने के लिए शोर मचाया। लेकिन, घर तो पूरा जल गया। सब लोग भी उसी में जलकर मर गए, केवल मेरे एक दादाजी बचे थे। क्योंकि, वे रामपुर (किन्नौर) में रहते थे। रामपुर में वह राजा साहब के पुजारी थे।

प्र. रं. : यह कब की बात हैं?

अ. ला. : दादा के भी दादा के समय की बात है। इसकी हिस्ट्री हमारे यहां कहानी में चल रही है। इस पर गाने भी हैं। उनसे पता चलता है। उन गानों में ये सभी बातें मिलती हैं।

(लामा जी गाकर सुनाते हैं)...

शु निमा मङशीरई शुना निमा ज़ा चीरई।
कोली गो होलो न यायियाला वे होलो न!
तुरिंदेन बिरीमा धनतो नया कुल्लाया धनतो ते,
कुल्लाया कुल्ला लामा धनतो तो।
कुल्ला लाम बोलो रे...

प्र. रं. : 'राजा साहब' मतलब वे मौजूदा कांग्रेसी नेता और हिमाचल के मुख्यमंत्री वीरभद्र सिंह के परिवार में पुजारी थे?

अ. ला. : हां, उनके परिवार में पुजारी थे। ...तो उनको बिना बताए लोग (आग वाली घटना के बाद) लाए यहां तक। यहां सामने दार (मोड़) है (एक तरफ इशारा करते हुए); उसी दार के पास पहुंचते समय उनको बताया गया कि आपके परिवार में सब जलकर मर गए, तो उन्होंने देखा कि यहां तो सब राख बना पड़ा है। तो वह बहुत रोए; उनको बड़ी मुश्किल से लोगों ने संभाला-समझाया। तो यह जो हमारा मकान है (एक पुराने मकान की ओर इशारा करके), यह गांव के लोगों ने श्रमदान करके बनवाया। ...तो मेरे घर का जो नाग देवता है। वह चूरू बन गया। (ज़ोफो यानी गाय और यॉक के प्रजनन से पैदा होता है, उसको चूरू बोलते हैं। बैल से जो बच्चा पैदा होता है, उसे तो बैल ही बोलते हैं।) तो चूरू बन करके भों-भों करते हुए दूर तक भागा; और यहां से दूर जाकर नाग देवता काले रंग का चुरू बन करके पत्थर के बीच में मां और बेटे दोनों समा गए। वह निशान (पत्थर में) अभी भी बना हुआ है, सांप का।

अच्छा, नाग देवता भी हमारे यहां दो प्रकार के होते हैं। एक होता है धन-दौलत देने वाला। एक होता है हमारे धन-दौलत को खत्म करने वाला। इस तरह से जो वहां छाप (निशान) है, वहां पर बच्चा जो है, वह नीचे है और मां ऊपर बनी हुई है, देखने लायक है। लोग यह भी बताते हैं कि मेरे दादा जी बहुत शक्तिशाली थे। ऐसा बोलते हैं कि रामपुर में देवी-देवता के साथ (उनका) प्रतिस्पर्धा (तंत्र-मंत्र की शक्ति का प्रदर्शन) हुई। प्रतिस्पर्धा में देवता बोले कि हम कांसे की थाली फेंकेंगे तो धूप को रोक देंगे।

प्र. रं. : देवता ने कहा?

अ. ला. : हां, देवता ने कहा। तो मेरे दादा जी गए होंगे वहां टाणा-वाणा (तंत्र-मंत्र, झाड़-फूंक) करने। हमारे भी देवी-देवताओं के साथ हमारे लामाओं का काफी कंपटीशन (तंत्र-मंत्र शक्ति प्रदर्शन) चलता है। देवी-देवता बोलते हैं कि हम बड़े हैं। लामा तो अपने को बड़ा बोलते नहीं। लोग भी अब इस तरह से नास्तिक

हो गए हैं। अब देवी-देवता को ज्यादा मानते हैं। धर्म को कम मानते हैं।

प्र. रं. : आप कह रहे हैं कि देवी-देवता को मानना एक तरह से नास्तिक हो जाना है? आपका मानना है कि जो नास्तिक हो जाते हैं, वे मूल धर्म को, सच्चे धर्म को नहीं मानते। कर्मकांड में उलझ जाते हैं?

अ. ला. : हां जी! हां जी!! ...तो वहां (रामपुर में) किसी को कोढ़ जैसी कोई बीमारी हुई होगी। उसे कोई ठीक नहीं कर पा रहा था। मेरे दादा जी गए, तो देवता ने बोला—तू मेरे गांव कैसे आया? तू इस तरह की बीमारी ठीक करने वाला कौन है? तू अपने आप को बहुत बड़ा समझता है? तो दादा जी बोले- मैं तो बड़ा नहीं समझता। मैं तो लोगों की सेवा कर रहा हूं। तो उनमें बहस हो गई।

प्र. रं. : किसमें? देवता और आपके दादा जी में?

अ. ला. : हां, देवता और मेरे दादा जी में। बहस होते-होते देवता ने कहा कि तू बड़ी शक्ति दिखा रहा है। मैं कांसे की थाली फेंककर सूरज की किरण (धूप) को बंद कर सकता हूं। तू कर सकता है? तो दादाजी ने कहा कि आप बंद कर सकते हैं; तो मैं भी कर सकता हूं। इसमें कौन-सी बड़ी बात है। तो देवता बोला कि करके दिखा तू। तो मेरे दादाजी ने बोला कि पहले आप बंद करो। मगर, नीचे थाली जब नीचे आए, तो टूटनी नहीं चाहिए। तो देवता ने थाली फेंक दी। उसने धूप तो बंद कर दी; लेकिन दो मिनट बाद थाली नीचे आई, तो टूट गई। फिर मेरे दादाजी ने फेंकी, तो उन्होंने धूप को तो बंद कर ही दिया, और जब थाली नीचे आई, तो उनके हाथ में आ गई। थाली नहीं टूटने की वजह से वह (देवता) हार गया। आज तक भी वहां देवता का माली उठने से पहले बोलता है कि, 'ऐती पछी करला लामा तो न आसे।' इसका मतलब यह है कि यहां आस-पास करला लामा तो नहीं है। अगर किसी ने झूठ को भी बोल दिया, कि है; तो देवता का माली उठता ही नहीं है।

प्र. रं. : माली क्या होता है?

अ. ला. : देवता का माली उसको बोलते हैं, जो... जैसे देवता आपके शरीर में आ जाएगा। आपके शरीर में आकर के पूरी बातचीत करेगा वह।

प्र. रं. : अच्छा! जिसके शरीर में देवता आता है; वह माली?

अ. ला. : हां, वह माली होता है।

प्र. रं. : अभी यहां राजनीतिक हालात क्या हैं? यहां तो वीरभद्र सिंह का ज्यादा प्रभाव है?

अ. ला. : नहीं, जी नहीं; बेचारे वीरभद्र सिंह तो खत्म हो रहे हैं। जैसे हमारे

यहां के टीएस नेगी जी थे। आज टीएस नेगी जी की वजह से हम बचे हैं। नहीं तो, आप सब लोग यहां आ करके, यहां के वासी होते और हम सब लोग चौकीदार होते। आज हम गर्व से जीते हैं, तो टी.एस. नेगी जी की वजह से।

प्र. रं. : क्या किया उन्होंने?

अ. ला. : किन्नौर में आज बाहर का आदमी कोई जगह नहीं ले सकता।

प्र. रं. : उन्होंने कोई कानून बनवाया इस तरह का?

अ. ला. : हां जी, उन्होंने कानून बनाया।

प्र. रं. : सही बात है यह। नहीं तो बाहर वाले आकर सब कुछ कब्जा कर लेते और धीरे-धीरे स्थाई हो जाते।

अ. ला. : हां जी, हां जी।

प्र. रं. : क्या नाम है उस कानून का? जिसके हिसाब से बाहर वाले यहां जमीन नहीं ले सकते? एक्ट है कोई?

अ. ला. : नहीं, एक्ट तो वही है जी; मौजूदा कानून में एक यह भी जोड़ा गया कि किन्नौर की जमीन बाहर के लोग नहीं ले सकते।

प्र. रं. : टी.एस. नेगी जी क्या मंत्री रहे हैं?

अ. ला. : विधानसभा अध्यक्ष रहे हैं।

प्र. रं. : यह ठाकुर सैन सिंह क्या थे?

अ. ला. : ठाकुर सैन सिंह बहुत खोपड़ी (ज्ञानी) थे। उनके टाइम में मेरे पिताजी अकेले थे भाजपा में; यहां इस गांव से। तो लोग बहुत चिढ़ते थे मेरे पिता जी से। तो आज की तारीख में तो हमारे यहां से बहुत सारे लोग हैं, भाजपा में।

प्र. रं. : अभी कौन है विधानसभा में, कौन-सी पार्टी है? इस समय एमएलए कौन है? और एमपी कौन?

अ. ला. : कांग्रेस ही है। जगत सिंह एमएलए हैं। एमपी भाजपा के हैं।

प्र. रं. : तो यहां से तो जड़ उखाड़ दी आप लोगों ने वीरभद्र सिंह की?

अ. ला. : हां जी। बेचारों का!

प्र. रं. : हम लोग तो यही मानते थे कि किन्नौर उन्हीं का है।

अ. ला. : (अमीर लामा हंसकर...) टीएस नेगी जी ने बहुत काम किया, बहुत ज्यादा। उनके समय में काम करने का मजा ही कुछ और था।

प्र. रं. : कितने साल पहले?

अ. ला. : 10 साल हो गए। कोई आदमी उनके पास कोई काम कराने जाता था, तो एकदम यस नहीं करते थे। बोलेंगे आप कहां से हैं? क्या हैं आप?

उसके बाद कहेंगे- ठीक है, देखेंगे। उन दिनों फोन वगैरह तो होते नहीं थे। फिर वह चिट्ठी लिखते थे; मेरे पिताजी को। चिट्ठी लिखते थे कि इस नाम का आदमी है आपके यहां? और वह किस पार्टी का है? तो जब हमारे पिता जी यहां से लिखकर भेजते थे कि हां जी, यह हमारा आदमी है, इसका काम करो। तब वह काम करते थे, उस आदमी का।

प्र. रं. : लेकिन आपकी पार्टी (भाजपा) तो यह मानती है कि बौद्ध धर्म हिंदू धर्म का हिस्सा है। आप लोग कैसे देखते हैं इसे?

अ. ला. : हम लोग नहीं मानते हैं ऐसा। भाजपा बिलकुल मान रही है। आरएसएस वाले भी यही खेल फैला रहे हैं। लेकिन, जो एक्चुअल में बुद्धिस्ट लोग हैं, वे इस चीज को नहीं मानते।

प्र. रं. : वह है भी नहीं न, बौद्ध धर्म के विरोध में खड़ा है। उसकी संस्कृति अलग है।

अ. ला. : हां जी, हां जी; अलग हैं; दोनों की संस्कृति अलग है। जो मूल विचार हैं, उनमें जमीन-आसमान का अंतर है। भगवान बुद्ध ने मध्यम मार्ग अपनाया।

प्र. रं. : हां मध्य मार्ग, समानता, समता ये सारी बातें हैं इसमें।

अ. ला. : हां जी। अब मुझे जबसे भाजपा का जिला अध्यक्ष बना दिया है; तो मुझसे आरएसएस वाले बड़ा खार (दुश्मनी मानना) खाते हैं। मैं आरएसएस में जाने नहीं दे रहा हूं किन्नौरियों को। मैं बोला कि किन्नौरी हम जो भी हैं...। उस समय तो मुझे दिक्कत यह पड़ी कि हम (बौद्धिस्ट) अल्पसंख्यक में आ नहीं पा रहे हैं। कोई हिंदू बन रहा है, कोई क्रिश्चियन बन रहा है, कोई कुछ बन रहा है।

तो हमारे किन्नौरियों को अपने धर्म के बारे में नहीं पता है। एक तो टीचिंग लाइन (अध्यापन क्षेत्र) में बाहर के लोग आकर गड़बड़ी कर रहे हैं। हमारे लोगों के नाम तक बदल दे रहे हैं।

प्र. रं. : किन्नौर में बहु-पति प्रथा है। क्या आप लोग ने इसको लीगल (कानूनी) बनाने की मांग कभी सरकार से की? जैसे कि हिंदुओं की शादी हिदू मैरिज एक्ट के हिसाब से मान्य होती है। वैसे ही आप लोगों के लिए आप आदिवासियों की बहुपति प्रथा के लिए कोई कानून है?

अ. ला. : इसका कोई लॉ (कानून) नहीं बना है। यह तो अपने कस्टम और समाज के मुताबिक है। कस्टम कहने का मतलब हमारा रिवाज है, जिसे हम निभाते हैं।

प्र. रं. : अभी कितने प्रतिशत लोग बहु-पति प्रथा के तहत विवाह कर रहे हैं?

अ. ला. : हमारे यहां इस तरह के विवाह को ञमफो पोसमा बोलते हैं। यह अब कम हो गया है। अब 20 प्रतिशत लोग भी नहीं बचे, जो ञमफो पोसमा यानी, कॉमन मैरिज (बहुपति प्रथा) में हों। पहले सभी लोग करते थे। हालांकि अभी भी लोग कॉमन मैरिज कर रहे हैं। अभी हाल ही में मेरे बेटे के हम-उम्र लड़कों ने कॉमन मैरिज की है, और निभा रहे हैं।

प्र. रं. : कॉमन मैरिज का क्या लाभ देखते हैं आप?

अ. ला. : लाभ तो बहुत हैं। जैसे कि हम दो भाई हैं कॉमन मैरिज में, और हमारे चार बच्चे हैं। पर, मैं यहां आपके साथ मजे से बैठा बातचीत कर रहा हूं। बच्चों को लेकर मुझे कोई टेंशन नहीं है। भाई पूरा खर्चा वहन कर रहा है। दूसरा, परिवार नियोजन की जरूरत ही नहीं पड़ती। कॉमन मैरिज में बच्चे ज्यादा नहीं होते हैं।

प्र. रं. : बच्चे ज्यादा होंगे तो?

अ. ला. : बच्चे ज्यादा होंगे ही नहीं। बच्चे ज्यादा कैसे होंगे? यहां लावण गांव में पांच पतियों की एक घरवाली है, तो उनके तीन बच्चे हैं। तो काहे को परिवार नियोजन करना? उन्हें परिवार नियोजन करने की जरूरत ही नहीं है।

प्र. रं : आपके कितने बच्चे हैं?

अ. ला. : हमारे चार बच्चे हैं। हम तीन भाई हैं। सबसे छोटे भाई लामा हैं कुल्लू (भुंतर) में। हम दो भाई कॉमन (बहु-पति प्रथा) में रहते हैं। हमारे बड़े भाई वेटेनरी (पशु चिकित्सालय) में हैं, रामपुर (किन्नौर) में। हमारे छोटे पिताजी ने अलग शादी की। इस कारण हमारे घर में झगड़े हुए। झगड़े में उन्होंने बंटवारे के लिए अर्जी डाल दी। एक ही अर्जी में तहसीलदार ने ऑर्डर (आदेश) कर दिया कि इसका बंटवारा करो। तो मैं वहां गया और मैंने तहसीलदार से कहा कि सर, आपने ऐसा आदेश कैसे किया? हमारे किन्नौर के कस्टम (संस्कृति) के बारे में आप क्या जानते हैं? तो तहसीलदार बोले- किन्नौर के कस्टम के बारे में क्या मतलब है? इसको हक नहीं है क्या अपने घर में? तो मैंने कहा कि यह बात नहीं है। मैंने कहा कि हिंदू लोग तो बड़े भाई की घरवाली को मां मानते हैं। मगर, हमारे किन्नौर में हम कॉमन मैरिज में रहते हैं। हमारे यहां बड़े भाई की पत्नी अन्य भाइयों की पत्नी भी होती है। और अगर आप जैसे साहब आ करके इस तरह बंटवारे का आदेश बिना हमारे रिवाज को जाने-समझे देंगे, तो उससे तो हमारे लोगों को शह

मिल जाएगी। बड़ा भाई शादी करेगा। कुछ दिन कॉमन (साझे) में रहेगा, फिर अलग शादी करेगा। महिला में कमी निकालेगा कि वह ऐसी है, वैसी है। इस तरह कमियां निकाल करके कुछ दिन बाद अलग शादी कर लेगा। तो हमारे इधर का माहौल सब बदल जाएगा। बाहर वालों से निपटना आसान है। घर वालों से निपटना थोड़ा मुश्किल है।

प्र. रं : आपके यहां अंतर्जातीय विवाह होते हैं? जाति से बाहर?

अ. ला. : हमारे यहां अंतर्जातीय विवाह नहीं होते हैं। यदि होते हैं, तो उनका विरोध होता है।

प्र. रं : कॉमन मैरिज से पैदा हुए बच्चे जब स्कूल जाते होंगे, तो फिर हिंदू एक्ट के अनुसार एक ही पिता का नाम लिखना होता होगा?

अ. ला. : यह प्रश्न आपने बहुत सही किया है। ऐसी समस्या आ रही है। क्योंकि, हम दो भाई हैं, तो दो भाई में क्या है कि बच्चे के स्कूल में एडमिशन के लिए, एक्सीडेंटल केस में या कहीं भी सर्टिफिकेट देना है या आप (एक भाई) नौकरी कर रहे हैं, नौकरी करते समय एक भाई को कुछ हो जाए, तो उसकी पेंशन के लिए दिक्कत आती है। जैसे मेरा भाई नौकरी कर रहा है और अगर उसको कुछ हो जाए, तो पेंशन लगाने के लिए मुश्किल...! अभी मैंने शादी की है, तो घरवाली मेरे नाम से है, और भाई के नाम से नहीं चढ़ा हुआ है। कॉमन मैरिज के लिए कानून में कोई व्यवस्था नहीं है। इसलिए तो हिंदू कानून के मुताबिक सब होता है; इससे यहां पर बड़ी दिक्कत आ रही है। किसी को दो-दो, तीन-तीन पेंशन लगा रहे हैं, तो उसमें सवाल उठा रहे हैं। मैं जब प्रधान था, तो मैंने साफ किया यह कि पत्नी का उसके सभी पतियों की पेंशन पर हक है।

प्र. रं : जैसे मान लीजिए कि तीन भाई हैं। शादी के बाद दो की मृत्यु हो गई, तो दोनों की पेंशन मिलेगी पत्नी को?

अ. ला. : हां, दोनों की पेंशन मिलनी चाहिए। इस पर ऑब्जेक्शन भी आया है कई बार। काफी क्वैरीज लगाकर इसे रोकने की कोशिश की, तो मैं बिलकुल नहीं माना। मैंने कहा कि यह हमारा कानून है। इसको पेंशन मिलनी चाहिए। उसको सभी भाइयों ने अपने साथ पत्नी मानकर रखा है, तो उसको उनकी पेंशन मिलनी चाहिए। कई लोग उसको घुमा-फिराकर के, परिवार रजिस्टर को घुमा-घुमाकर रोकने लगे; तो मैं बिलकुल नहीं माना। मैंने कहा कि हमारे यहां यह चलता है, उसको उसका हक देना पड़ेगा।

कॉमन मैरिज में रहने वाला अगर सरकारी नौकरी में है तो उसकी मृत्यु के

बाद पत्नी को पेंशन के मामले में दिक्कत आती है। पेंशन के मामले में यह कहते हैं कि आपकी पत्नी एक है। पति कई हैं लेकिन पर्टिकुलर पंचायत में नाम तो एक पति का ही लिखा हुआ है (अमूमन बड़े भाई का नाम होता है)। तो इस बारे में जो कस्टम (रीति-रिवाज) में है। अब जैसे मेरी पत्नी है, तो उसके आगे मेरा नाम चढ़ा हुआ है, पंचायती रजिस्टर में; और मेरा भाई बाहर नौकरी करता है। मान लो मेरे भाई को कुछ हो जाए, तो मेरी पत्नी को उसकी पेंशन लेने में दिक्कत आएगी। इसका मुख्य कारण यह है कि यहां हिंदू लोगों को पंचायत में अधिकारी बनाकर भेजा जा रहा है और मुख्य बात क्या है कि हम भी अपने कस्टम को बोल (मतलब अपने रीति-रिवाज के बारे में बाहर के सरकारी नौकरों को बता) नहीं पा रहे हैं। वहीं, हमारे लोग, जो बाहर जाकर के आते हैं; वे बाहर उस तरह से नहीं देखते हैं, तो उन्हें यहां की शादी के रीति-रिवाज निभाने में तकलीफ होती है। तो यह हमारी भी कमी है। बच्चों को भी उसका (अपने रीति-रिवाज का) ठीक से नहीं पता हो पाता है।

प्र. रं : मैंने खबर देखी, भाजपा की वर्तमान सरकार में; यूजीसी (यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन यानी विश्वविद्यालय अनुदान आयोग) ने कहा है कि अब विश्वविद्यालय में प्रवेश के लिए सिर्फ मां का नाम लिखना पड़ेगा। पिता का नाम लिखना जरूरी नहीं होगा। तो इससे कुछ तो राहत मिलेगी आप लोगों को?

अ. ला. : हां जी, हां; इससे राहत मिलेगी।

प्र. रं : आपके दो बेटे हैं। आप चाहेंगे कि वे कॉमन मैरिज करें?

अ. ला. : हां, मेरी यही इच्छा है। मैं उनको समझाता हूं। मैं उनको यह उदाहरण देता हूं कि खेतों की, जगह की कमी है। तो इस वजह से भविष्य में दूर की बात सोचते हुए एक ही शादी करें। अलग-अलग शादी करेंगे, तो दिक्कत होगी। मेरी तो चलो थोड़ी-बहुत जगह है। हम लोग थोड़ी-सी जमीन वाले, थोड़ी आय के संसाधन वाले हैं। लेकिन अगर हम ही अपने रीति-रिवाज को भूलकर इस तरह करेंगे, तो आगे की पीढ़ी या गरीब-गुरबा जो हैं, उसको अडॉप्ट करने (हमारे पदचिह्नों पर चलने) की कोशिश करेंगे। तो इसलिए मैं अपने बच्चों को यह बोलता हूं कि हम इस तरह अपने रिवाजों को निभाएं, ताकि दूसरों के लिए उदाहरण बनें। हमें देखकर कहीं ऐसा न हो कि जिनके पास जगह-जमीन नहीं है, वे लोग अलग-अलग शादी करने लगें, और एक दिन ऐसा आए कि उन बेचारों के पास जगह-जमीन ही नहीं बचे। एक दलित परिवार में मैंने देखा है कि उसमें बंटवारा होते-होते आज उनके पास मकान बनाने के लिए भी जगह नहीं है।

प्र. रं : कॉमन मैरिज को तोड़ने वाले भी बहुत लोग होंगे आपके यहां?

अ. ला. : हां, तोड़ने वाले भी बहुत हैं। तोड़ने का भी मुख्य कारण यह है कि जो पढ़ने के लिए बाहर जा रहे हैं, तो बाहर अलग-अलग सब देख रहे हैं। दूसरा, वहां पर लोग मजाक उड़ाते हैं कि एक ही घरवाली के साथ सब भाई कैसे रह सकते हो? तो बाहर रहने वाले लोग शर्म के मारे इस तरह अपनी-अपनी शादी करने लगे। दूसरा, हमारे यहां शादी दो प्रकार से होती है। एक तो लड़की को भगाकर ले जाते हैं। तो समझिए उसकी शादी हो गई। उसमें इस समय (बच्चे होने के बाद) में भी हम लोग शादी मनाते (करते) हैं। शादी मनाने में हमारे यहां लोगों (रिश्तेदार आदि) को बुलाकर दावत वगैरह करते हैं। रिश्तेदार सामान वो सामान जो पहले कभी उनके यहां शादी वगैरह में दिया होता है, वह सब लौटाते हैं। यह शादी काफी बाद में भी करते हैं। बच्चे भी बड़े हो जाते हैं। ऐसे में बच्चे क्या बोलते हैं कि हमारे मां-बाप की शादी है। तो नीचे (किन्नौर के अलावा दूसरी जगहों) के लोग मजाक उड़ाते हैं।

प्र. रं : समझ नहीं पाया!

अ. ला. : जैसे, मेरे पास कोई आय का साधन नहीं है और मुझे शादी करनी है। ऐसी स्थिति में मैं लड़की के परिवार के किसी जिम्मेदार आदमी को चुपके से बताऊंगा कि आपकी लड़की के साथ शादी करनी है।

इसके बाद अपने दो-चार दोस्तों को बोलूंगा और लड़की को जबरन उठाकर ले आऊंगा।

करला में अमीर लामा का घर। उनका यह घर कई सौ वर्ष पुराना है

प्र. रं : उस शादी को कहते क्या हैं?

अ. ला. : ऐसी शादी को टाबोकीमा बोलते हैं। टाबोकीमा बोल करके लड़की उठा ली जाती है। उसमें लड़की रोती भी है। लड़की को जबरदस्ती लाते हैं, तो हो सकता है कि उस लड़की को किसी और से प्यार हो; फिर भी उसको ले आते हैं और शादी कर लेते हैं। जबरदस्ती करके ले आएंगे और आराम से 10 साल बाद या 15 साल बाद भी समय देखकर पंडित को पूछकर शादी कर लेते हैं। हम लोग उसको बड़ी शादी बोलते हैं। तो उस शादी में बच्चे भी बारात में जाते हैं। यह हमारे यहां का रिवाज है। किन्नौर से बाहर के लोग मजाक उड़ाते हैं कि तुम्हारे यहां कैसी शादी होती है कि बच्चे बड़े-बड़े हो जाते हैं, तो मां-बाप शादी करते हैं।

प्र. रं : हमारे उधर झारखंड में असुर आदिवासी हैं। उनके यहां एक होता है 'घर ढुकु'। आपके यहां से ठीक उलटा होता है उनके यहां। उसमें होता यह है कि लड़का पसंद आ गया लड़की को या लड़की के मां-बाप को, तो लड़की उसके (लड़के के) घर में घुस जाएगी, तो उसको रखना पड़ेगा। रह गई, तो बच्चे हो जाते हैं। ऐसे में उनके बच्चों की शादी तब तक नहीं होगी, जब तक उनकी शादी नहीं होगी। तो फिर वे लोग 15-20 साल बाद अपनी शादी करते हैं; उसमें बच्चे भी शामिल होते हैं।

अ. ला. : जी! ...अच्छा, दूसरा हमारे यहां एक अच्छी बात है कि हमारे यहां लड़कियों को इज्जत दी जाती है। आपके यहां लोग लड़का मांगने जाते हैं। हमारे यहां लड़की मांगने जाते हैं। इसमें लड़की के परिवार वालों से बड़ी मिन्नत (विनती) करनी पड़ती है। जैसे, लड़की की छोटी बहनों को मनाना पड़ेगा। अगर लड़की की दस-पांच सहेलियां हैं, तो उनको भी मनाना पड़ेगा। उन्हें मनाने के लिए पांच, सात या नौ आदमी शराब की बोतल लेकर जाएंगे। बोतल के ढक्कन पर घी लगा होता है। इसे हम शगुन कहते हैं।

हम लड़की की सहेलियों को घी का टीका लगाकर बोतल से थोड़ी-थोड़ी शराब देंगे। यदि उन्होंने स्वीकार कर लिया तो माना जाता है कि सहेलियों ने शादी के लिए रजामंदी दे दी। अगर उनको नहीं मनाएंगे, तो वे कहेंगी कि हमसे बिना पूछे ही लड़की को ले गए; तो वे पेनाल्टी (जुर्माना) लगाएंगी। अगर देर हो जाए बारात ले जाने में, तो गेट बंद करके रखेंगी।

इसके अलावा जूतों का हार बनाकर रखेंगी। जूतों का हार पहना देंगी लड़के को। फिर लड़के के जूते चुराकर रख देंगी। उस पर अलग से नेग लेंगी। बाद में

अमीर लामा के निजी उपासना-गृह में लगी पेंटिंग्स। उनके उपासना गृह में मौजूद ये वॉल पेंटिंग्स सैकड़ों वर्ष पुरानी हैं

जब खाना खिलाएंगी, तो सबसे पहले लामा बैठेगा, उसके पीछे लाड़ा (मुख्य दूल्हा यानी दूल्हों का सबसे बड़ा भाई) बैठेगा और उसके पीछे उसके भाई (बाकी दूल्हे) बैठेंगे। तो एक बड़ी, खुले मुंह की पानी से भरी (पांच, दस, पंद्रह लीटर की या उससे ज्यादा बड़ी) केतली रखेंगी। जब लड़के को प्यास लगेगी, तो उसी केतली से उसे अपने हाथ से उठाकर लड़के को पानी पीना पड़ेगा। नहीं तो पानी नहीं देंगी; प्यासा रहना पड़ेगा। और उसे (पानी की केतली को) नहीं उठा पाने पर जुर्माना अलग लगेगा। पांच हजार, 10 हजार रुपए जुर्माना भरना पड़ता है। वह जो जुर्माना है, लड़की की सहेलियों का होता है।

प्र. रं : बहु-पति प्रथा के बारे में और कुछ बता पाएंगे? कैसे पालन करते हैं इसका? उनकी दिनचर्या कैसी रहेगी?

अ. ला. : हमारे यहां पास में लावण गांव है। उस गांव में पांच भाइयों की एक पत्नी है। लेकिन, हमारे यहां का रिवाज ऐसा है कि सब निभ जाता है। कहीं कोई परेशानी नहीं होती।

प्र. रं : तलाक की क्या व्यवस्था है आपके यहां?

अ. ला. : तलाक में हमारा सीधा यह है; जैसे किसी से झगड़ा हो जाता है, जैसे—लड़का-लड़की में नहीं बनती है; तो भिष्टू (विवाह करवाने वाला सम्मानित बिचौलिया) आएंगे और लड़का-लड़की के घर वाले भी आएंगे; कहीं बैठेंगे, किसी

एक के यहां। जैसे—अगर लड़की ने गलत किया है, तो लड़के के घर में जाएंगे और लड़के ने गलत किया है, तो लड़की के घर में जाएंगे। वहां जाने के बाद लड़का-लड़की का बयान लिखित में दर्ज करेंगे। इसके बाद एक सूखा लक्कड़ (लकड़ी) लाएंगे। सूखे लक्कड़ को दो आदमी दोनों छोर से पकड़ेंगे, उसके बाद उसको तोड़ेंगे; तोड़कर के बोलेंगे कि आज के बाद हमारा-आपका कोई संबंध नहीं है। इस तरह से हमारे यहां तलाक होता है।

प्र. रं : क्या तलाक के बाद दोनों अपनी-अपनी इच्छा से शादी कर सकते हैं?

अ. ला. : हां, उसके बाद दोनों शादी कर सकते हैं।

प्र. रं : अगर कॉमन मैरिज की है, तो कैसे तलाक करेंगे?

अ. ला. : कॉमन मैरेज में सब भाई एक साथ में जाएंगे तलाक देने।

प्र. रं : अगर मान लीजिए एक भाई को तलाक लेना है तो?

अ. ला. : एक भाई को तलाक लेना है, तो जैसे मान लो उसने अलग शादी कर ली; तो उसमें (कॉमन मैरिज वाली पत्नी से) कोई तलाक नहीं होगा। मगर उसको अलग शादी करने की स्थिति में यह होगा कि सबसे पहले भिष्टू लोग उसके मायके (किसी एक भाई से विवाह करने वाली लड़की के घर) में जाएंगे, उनको मनाएंगे कि वह (लड़का) पहले से शादीशुदा है। फिर लड़की के घर वाले

अमीर लामा व उनकी पत्नी जङ्मो अपने परिजनों के साथ

उनसे पैसा, खर्चा-पानी मांगेगे, तो वह शादी, जो किसी भाई ने अलग कर ली है, तोड़ी जाएगी। अगर मान लो पहले से कॉमन मैरिज है, फिर भी अलग शादी कर ली और अलग चला गया रहने। और इधर कॉमन पत्नी से अगर बच्चा पैदा हो गया उसके (अलग शादी करने वाले के) नाम से, तो उसके (बच्चे के) खर्च का उस पर (अलग शादी करने वाले भाई पर) दावा करेंगे। अगर अलग शादी करने वाला भाई नौकरी कर रहा है, तो इसमें ऐसा भी प्रावधान है कि उसकी पत्नी (जो अन्य भाइयों की भी कॉमन पत्नी) है, वह जगह-जमीन के कागजों में उस अलग शादी करने वाले भाई का नाम नहीं चढ़ाने देगी।

प्र. रं : अगर मान लें कि अलग शादी करने वाले भाई का नाम महिला (कॉमन पत्नी) के पति के रूप में नहीं दर्ज हुआ हो तो?

अ. ला. : हां, दूसरे भाई का नाम हुआ; तब तो दिक्कत आती ही है। क्योंकि, हमारे यहां यह कानून ही नहीं है।

प्र. रं : लेकिन, सामाजिक रूप से उसको पैसा देना पड़ेगा?

अ. ला. : हां, सामाजिक रूप से उसको पैसा देना पड़ेगा।

प्र. रं : तो वह जो भाई है, जिसने अलग शादी कर ली, उसकी कॉमन पत्नी से तलाक तब भी नहीं होगा?

अ. ला. : नहीं, कॉमन पत्नी से तलाक तब भी नहीं होगा।

प्र. रं : मान लीजिए शिमला में कोई नौकरी कर रहा है और उसने वहां शादी कर ली। कॉमन पत्नी से बच्चा है, पैसा भी देना पड़ा उसे। और वह कभी घर आएगा, तो क्या वह अपनी कॉमन पत्नी के साथ सो पाएगा?

अ. ला. : नहीं सो पाएगा।

प्र. रं : (कॉमन) पत्नी ही अनुमति नहीं देगी या भाई भी इसका विरोध करेंगे?

अ. ला. : ऐसे में तो झगड़ा ही हो जाएगा। फिर वह आएगा ही नहीं। कई लोग तो ऐसा भी करते हैं कि बाहर रहते हैं, तो शर्म से अलग शादी कर ली और यहां आए तो अपनी कॉमन पत्नी के साथ रहे; फिर चले गए और अपनी पत्नी (अकेले जिससे शादी की) के साथ रहते हैं। ऐसे में उनके भाई और परिवार के लोग अच्छे हैं, तो निभा भी लेते हैं।

प्र. रं : कइयों की मजबूरी भी होगी। जैसे कोई एक भाई आईएएस अधिकारी हो गया; उसके दूसरे भाई गांव में छूट गए, तो वैसे ही दबाव में रहेंगे कि उतना विरोध नहीं करते होंगे शायद। संबंध बनाके रखना चाहेंगे उससे कि काम पड़ेगा, क्योंकि वह आईएएस है। मैंने सुना है कि किन्नौर जिले के निवासी कई

आईएएस अफसरों की यही कहानी है।

अ. ला. : हां जी, हां जी; ऐसा भी है।

प्र. रं : लेकिन, कॉमन मैरिज में तलाक संभव नहीं है। और अगर तलाक हो भी गया, तो वैसे ही लकड़ी तोड़कर करते होंगे?

अ. ला. : नहीं, ऐसा नहीं होगा। सिंगल मैरिज में ही होगा तलाक, कॉमन मैरिज में होगा ही नहीं। सीधा उसको खर्चा देंगे। न उनको लक्कड़ काटना होगा, न कुछ और करना होगा।

प्र. रं : यदि कोई महिला चाहे तो कोर्ट में भी तलाक नहीं होता होगा, क्योंकि इससे संबंधित कानून ही नहीं है।

अ. ला. : कोर्ट में जाते नहीं लोग। एक कल्पा साइड के भीमसेन तहसीलदार हैं। उन्होंने एक केस में, जिसमें एक भाई ने केस किया कि मेरे नाम पर लड़के (कॉमन पत्नी से पैदा हुए पुत्र) का नाम गलत चढ़ाया हुआ है। जब शादी हुई और बच्चा जब पैदा हुआ, तब मैं इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में पढ़ रहा था। जब (मेरे भाइयों की) शादी हुई मुझे छुट्टियां नहीं मिलती थीं। तो यह बच्चा मेरे से कैसे हो सकता है? मेरी हाजिरी चेक कर लीजिए।

...अच्छा, हमारे यहां शादी होने के बाद बकरा कटता है रात को। उसमें सारे भाई लाइन में बैठेंगे; या बच्चे हैं, तो वे भी बैठेंगे। उसमें सबसे पहले बाप बैठेंगे, फिर मां बैठेगी और उनके बीच में एक पति दुल्हन का भाई बनकर बैठेगा, सिर्फ उस दिन के लिए। और अगर पतियों में कोई एक भाई नहीं होगा, तो उसकी जगह एक छुरी रखेंगे।

...तो उन्होंने भीमसेन तहसीलदार ने कहा कि तेरे बदले में छुरी रखी गई थी कि नहीं? उसने कहा कि रखी गई थी। तब तहसीलदार बोले कि उसका कोई प्रूफ है, जो रिटर्न में भिष्टू लोग लिखते हैं। तब वह फाइल पेश की गई, उसमें उसका नाम था, पति के रूप में। तब उन्होंने कहा कि तू उसको (कॉमन पत्नी को) नहीं छोड़ सकता। तू जो है यूनिवर्सिटी में था या जहां भी था; तेरे बदले में छुरी रखी गई। इसलिए, तुझको उसे पत्नी मानना पड़ेगा। उन्होंने उदाहरण दिया कि यहां घुनसा और हुलसा होते हैं।

...आपको बता दूं कि भेड़-बकरी चराने वालों को घुनसा और हुलसा बोलते हैं। घुनसा और हुलसा का मतलब- जैसे ही गर्मियों में भेड़-बकरियां ऊपर ले जाता है, उसे हुलसा बोलते हैं। सर्दियों में जो भेड़-बकरियों को नीचे ले जाता है, उसे घुनसा बोलते हैं।

...तो तहसीलदार कहने लगे कि हमारे यहां फुआलों में तो सर्दियों में घुनसा जाता है। गर्मियों में हुलसा जाता है, तो वह कब सेक्स करेगा? कोई इसका प्रूफ दे सकता है? तू जब यूनिवर्सिटी में पढ़ रहा था, तो हमें क्या मालूम कि वहां से कब आया और सेक्स करके चला गया। तू हो सकता है कि हेलिकॉप्टर में आ करके एक दिन में सेक्स करके चला गया हो। बच्चा तो एक दिन में भी रह जाएगा। तो इस तरह भीमसेन तहसीलदार ने उसे नहीं छोड़ा।

बाजला अरस (किन्नौर में बना स्थानीय कानून, जो स्थानीय सरकार ने बनाया हुआ है) में तो यह भी लिखा हुआ है कि सभी भाइयों के पर्टिकुलर नाम भी लगाना जरूरी नहीं है, कॉमन मैरिज में। बड़े भाई का लगाओ, चाहे छोटे भाई का लगाओ। जगह-जमीन के मामले में ऐसा होगा कि राम, श्याम और मोहन (यानी बड़े भाई से छोटों के नाम क्रमशः चढ़े होंगे)। राम मर जाएगा, तो श्याम का नाम जगह-जमीन में चढ़ेगा। और श्याम के मरने के बाद मोहन का नाम चढ़ाया जाएगा। उसके बाद में जितनी भी औलादें हैं, उनके नाम में बराबर में बंटेगी जगह-जमीन। जो महिलाएं चतुर हैं, वे तो नाम बदल-बदलकर लगा देंगी। जैसे, किसी महिला के चार पति हैं, तो चार बच्चों में एक-एक के आगे एक-एक बाप का नाम लगवा देगी। आजकल तो नए-नए कानून बन गए हैं। पहले क्या करते था सरकारी कर्मचारी कि हर किसी के नाम से लगा देता था। कहीं बड़े भाई के नाम से, कहीं छोटे भाई के नाम से लगा देता था। बेचारी औरतें ऐसी भी हैं कि एक भाई बोल देता है कि मेरा नाम लगा कर आना बच्चे के आगे, तो उसका लगा दिया ग्राम पंचायत में। कोई बोलता है कि मेरा लगा दे, तो उसका लगा दिया।

प्र. रं : नाम बदल-बदलकर कैसे लगाती हैं? क्या जमीन में या पंचायती रजिस्टर में?

अ. ला. : जैसे मतलब यह है कि मैं पैदा हुआ। तो मेरी मम्मी ने कहा मेरा लड़का हुआ है, इसको एक बाप के नाम पर लगा दो।

प्र. रं : मतलब एक पैदा हुआ, तो एक पिता के नाम पर लगा दिया; दूसरा पैदा हुआ, तो दूसरे का नाम लगा दिया?

अ. ला. : हां जी, हां जी; इस तरह करते हैं। तो इस स्थिति में मां भी चुस्त होती है; बाप भी चुस्त होता है। अगर किसी (एक भाई) की नीयत में खोट होता है, तो वह चुपके से (बच्चे के नाम को) अपने नाम पर नहीं लगाएगा, बड़े भाई का नाम लगा देगा। तो मां अगर चतुर होगी, तो वह समझ जाएगी कि यह बिगड़ा हुआ आदमी है। इसलिए, वह क्या करेगी कि बड़े भाई का (जिसके साथ शादी हुई

उसका) नाम न लगाकर सबसे पहले सबसे छोटे भाई भाई का नाम जोड़ देगी। अन्यथा सबसे पहला हक तो बड़े भाई का है। शादी भी बड़ा भाई करेगा। बारात में भी लाड़ा (दूल्हा) बनकर भी बड़ा भाई जाएगा। पहले सेक्स करने का अधिकार भी बड़े भाई का ही होता है। इतना होने के बावजूद भी अगर मां चुस्त होगी, तो बच्चे का नाम जो है, छोटे भाई के नाम से पहले जोड़ेगी।

प्र. रं : इससे क्या फायदा है?

अ. ला. : वही तो राम, श्याम और मोहन वाला जो उदाहरण दिया; उसमें दिक्कत आ रही है। तो हिंदू लॉ के कारण तहसीलदार लोग और वकील लोग क्या कर रहे हैं कि किसी भाई का नाम चढ़ा दिया, किसी का नहीं चढ़ाया; तो नाम पर अड़ जाते हैं कि भई इस बच्चे के नाम में इसका (पिता के रूप में) नाम नहीं है, तो इसका हिस्सा (संपत्ति आदि) इसको (बच्चे को) कैसे मिलेगा?

प्र. रं : तो पुरुष क्या चाहता है कि बच्चा मेरे नाम से हो?

अ. ला. : नहीं, कई पुरुष तो यह चाहते हैं कि बच्चा उसके नाम से न हो। वह चाहता है कि जब तक मेरी शादी नहीं हो रही है, मैं उसके (कॉमन पत्नी के) साथ रहूं; बाद में जो है मैं दूसरी शादी कर लूं। तो यह मैंटेलिटी जो है, वह खतरा बन रही है।

प्र. रं : अच्छा, संपत्ति का मालिकाना हक किसके पास होता है?

अ. ला. : संपत्ति का मालिकाना हक पुरुष के पास होता है। महिलाओं को कोई अधिकार नहीं है; न घर-जमीन खरीदने का, न बेचने का। अगर वह शादी न करके मायके में बैठेगी, तो इस स्थिति में, जब तक उसकी जिंदगी है; तब तक उसको खर्चा-पानी देंगे। उसे घर में रहने की जगह देंगे; कमाने के लिए खेत या खर्च के लिए रुपया-पैसा देंगे। इसके अलावा महिलाओं को कोई अधिकार नहीं है।

प्र. रं : किन्नौर में महिलाओं की तो स्थिति अच्छी नहीं लगती। दो-तीन चीजें मैंने देखीं। जबरन उठाकर शादी करते हैं, उससे तो स्पष्ट है कि महिलाओं की स्थिति बहुत ही खराब होगी। फिर जो बहु-पति प्रथा है; उसको अगर दूसरे दृष्टिकोण से देखें, तो पूरे भारतीय समाज में महिलाओं की स्थिति दासी की होती है। यहां तो उसे लगभग-लगभग दो-तीन पुरुषों का काम करना पड़ता है। एक चीज आपने और बताई कि संपत्ति का अधिकार महिलाओं को नहीं है। लेकिन, आप कहते हैं कि महिलाओं की स्थिति बहुत अच्छी है। हम महिलाओं का सम्मान करते हैं?

अ. ला. : हमारा यह मानना है कि जैसा आपने कहा सबसे पहले जगह के बारे में महिलाओं को अधिकार नहीं है, तो इसके बारे में हमारे पूर्वजों ने बनाया हुआ है कि जैसे किसी लड़की की चार पतियों से शादी हो जाती हैं। तो जब हम शादी करने के लिए जाते हैं, तो वहां ससुराल में लिखा जाता है कि अगर इसको (लड़की को) कोई तकलीफ होती है; या तंग किया जाता है; तो उसको ता-जिंदगी, जब तक वह जीती है, मकान और दहेज में मिली गाय, भैंस, बकरी देना है। जमीन या फिर पैसा भी जरूरी हैं; जिसके पास ज्यादा जगह-जमीन है, वह बगीचे का कुछ हिस्सा लिख करके देता है।

इसके अलावा शादी नहीं करके जो महिलाएं घर (मायके) में बैठती हैं; यहां पर ऐसा भी है कि हमारी कई महिलाओं की शादी नहीं होती। वे घर में बैठती हैं; तो उनको जिंदगी जीने के लिए खर्चा दिया जाता है। जैसे मेरा यह मकान है। मान लीजिए मेरी बहन ने शादी नहीं की, तो उसको एक कमरे का किराया या रहने के लिए जगह दी जाएगी। उसका जो किराया लेना चाहे, या जो भी करे, वह कर सकती है। यानी उस संपत्ति पर उसका अधिकार बना रहेगा। तो हमारे किन्नौर में देखिए, जगह-जमीन की वैल्यू कितनी है।

तो जब तक उसकी (महिला की) जिंदगी रहती है, तब तक उसको उपयोग भी करेगी। ऐसा भी होता है कि जमीन के लालच में कई लोग महिलाओं को मार-काटकर जमीन अपने नाम कर लेते हैं। ऐसा कई जगह हुआ है। ऐसी जमीन जो बच्चे के नाम पर हो गई, वह तो बच जाती है। लेकिन, जो महिला को मिल गई. तो इस तरह के लोग उन्हें बेवकूफ बनाकर के शादी करेंगे; इस तरह शादी का लालच देकर जमीन लेंगे।

तो वे लोग खुश हैं कि उनको जमीन नहीं मिल रही है, उनको तो जिंदगी के लिए सब कुछ साधन मिल गया, तो वे खुश हैं। दूसरी बात यह है कि उसको (कॉमन मैरिज करने वाली महिला को) कई पतियों का काम करना पड़ता है, उसमें हमने ऐसा नियम बनाया है; जैसे- हम तीन भाई हैं, तो हम लोग क्या करते हैं कि आज एक भाई घर में हैं, तो मैं कहीं बाहर जाऊंगा। मैं घर में हूं, तो दूसरा भाई कहीं बाहर काम से जाएगा। यानी हम साथ नहीं बैठेंगे। रुटीन जो है, वह महिला खुद बना देगी। कभी उनका दिन को, कभी-कभी उनका रात को होगा काम। कभी दोपहर के बाद होता है।

दूसरा, यह महिला यह मानकर चलती है कि उसको मर्द से ज्यादा ही अधिकार है। इस तरह से महिला संतुष्ट करती है सभी पतियों को। मैंने देखा है

अपनी लाइफ में पहले भी मैं देखता रहा कि एक से अधिक पतियों के साथ 'काम' करने से किसी को ऐसा नुकसान नहीं हुआ है। उलटा मैंने देखा कि बहु-पति को लेकर महिलाएं बहुत खुश रहती हैं। उसको किसी भी चीज में खर्चा पानी में, दूसरी चीजों को कोई तकलीफ नहीं होती। कोई कमी नहीं होती है; कुछ भी। इसलिए, वह बहुत खुश रहती है।

प्र. रं : और बाकी घरेलू जो काम होते हैं, उसको कैसे बांटते हैं? क्या घरेलू कामों में पुरुष सहयोग करते हैं?

अ. ला. : बिलकुल, बिलकुल सहयोग करते हैं। बर्तन धोने से लेकर दूसरे कामों में और हमारी महिलाएं तो बहुत ज्यादा काम करती हैं। दिन भर काम करती हैं। खाना बनाने से लेकर पतियों के लिए काम है, वह करना। वह भी बड़ी खुश होकर सारे काम करती हैं। उनको कोई दुःख नहीं है। कई बार उसे बाहर जा करके दूसरे काम भी करने पड़ते हैं। ऐसा केस हमारे को देखने को नहीं मिलता कि पति-पत्नी में झगड़ा होता रहता है।

हमारे यहां भी लो-कास्ट के जो लोग हैं; उनमें एक पति है, वहां हमने देखा है कि झगड़ा बहुत ज्यादा होता है। कहने का मतलब यह है कि जिस औरत का एक पति है, उसमें झगड़ा बहुत ज्यादा देखा गया है। लेकिन, बहु-पति वाले में झगड़ा नहीं होता। जैसे, मैं यहां पर हूं, मेरे भाई भी हैं; उसकी (पत्नी की) काम-भावना की भी पूर्ति होगी और काम भी हो रहा है। बच्चों को पढ़ाने-लिखाने का काम भाई देख रहा है। मैं खाली हूं, तो मैं देख रहा हूं। इस तरह हम गर्व से कह सकते हैं कि यह प्रथा सही है। अगर हम अलग-अलग शादी कर लेंगे, तो यहां से हमारा बंटवारा हो जाएगा। तो जगह-जमीन थोड़ी-थोड़ी हो जाएगी। इस तरह से भाई-भाई में झगड़ा भी होगा।

प्र. रं : अच्छा, दलितों में बहु-पति प्रथा है कि नहीं है?

अ. ला. : हां उनमें भी बहु-पति प्रथा है। लेकिन, कम है। दलितों में कई ने कॉमन मैरिज की थी; वे लोग लड़ाई करके कई जहर खा करके मरे भी हैं। कोर्ट मैरिज भी करने वाले हैं इनमें।

प्र. रं : महिला या पुरुष?

अ. ला. : पुरुष। क्योंकि, महिला है उसके दो-तीन पति हैं; तो वह तो सबके साथ संभोग करेगी ही। मगर, दूसरा पति यह बोलता है कि मेरे को कम समय दे रही है तू; ऐसे दूसरा बोलता है—तू मेरे को कम समय दे रही है। तो इस तरह वे आपस में झगड़ा करते हैं और इसके साथ ज्यादा समय दे रही है कि

उसको ज्यादा। तो दोनों को एक तरह से वह प्यार नहीं दे पाती। इस तरह झगड़ा करके जहर तक खा लेती है। लोअर कास्ट में ऐसा ज्यादा हो रहा है।

प्र. रं : दलित व स्त्रियों से संबंधित आपकी इन बातों से मेरी सहमति तो नहीं बनती, लेकिन यह बताइए कि अजंता-एलोरा में कई मंदिरों में सामूहिक रति-क्रिया की मूर्तियां हैं। क्या कॉमन मैरिज में...?

अ. ला. : कॉमन मैरिज में ऐसा है कि दो भाई हैं, आपस में उनकी थिंकिंग अच्छी है; तो वे ऐसा करते हैं। कुछ भाई, जिनमें आपस में प्रेम होता है, तो दोनों एक साथ रह करके एक ही पलंग पर सोकर इस तरह कर लेते हैं। ऐसा भी देखने को मिलता है।

प्र. रं : इसे बुरा नहीं माना जाता है क्या?

अ. ला. : इसको बुरा नहीं माना जाता। ये कुछ लोग हैं ऐसे। पहले तो इतने कमरे ही नहीं थे। एक ही कमरे में बैठते थे, एक ही में रहते थे, एक ही में सोते थे। तो पहले तो ज्यादातर लोग सामूहिक ही करते होंगे।

प्र. रं : क्या यहां बहु-पत्नी प्रथा भी है। मतलब एक पुरुष कई महिलाओं से शादी कर सकता है? या सिर्फ बहु-पति प्रथा है?

अ. ला. : हमारे यहां बहु-पत्नी प्रथा नहीं है। ऐसा तो ठरकी लोग ही कर सकते हैं!

❑

साक्षात्कार-2

एक जोमो का जीवन

[जून, 2017 में किन्नौर, लाहौल और स्पीति की यात्रा के दौरान किन्नौर जिले के सुदूर गांव कानम के एक गोम्पा में सुमार नाम की जोमो मिलीं। जोमो यानी बौद्ध भिक्षुणी। मध्य हिमालय की अपूर्व शांति से भरी उस घाटी में सहज वात्सल्य से भरीं 56 वर्षीय सुमार के साथ कुछ घंटे बिताना एक अनूठा अनुभव था। भावना के तल पर हम एक-दूसरे तक बखूबी संप्रेषित हो पा रहे थे; लेकिन इन दुनियावी प्रश्नों के उत्तर पाने में हिंदी भाषा का तिब्बती लहजे में उच्चारण एक बड़ी बाधा थी। मैंने उनसे जानना चाहा कि जोमो बनने की प्रक्रिया क्या है? परंपराएं और आज के संदर्भ में उनकी स्थिति क्या है?]

प्रमोद रंजन : क्या नाम है आपका?

जोमो : सुमार।

प्र. रं. : आप कहां की रहने वाली थीं?

जोमो : मैं इसी गांव [कानम] की रहने वाली हूं। यहां जितनी जोमो हैं, वे सब इसी गांव की हैं।

प्र. रं. : यहां इस समय कौन हैं हेड? आप ही हैं?

जोमो : यहां हेड तो है; लेकिन अभी यहां नहीं है। इस कारण अभी इस गांव के गोम्पा की हेड फिलहाल मैं ही हूं।

प्र. रं. : आप पुजारी हैं?

जोमो : हां, मैं हूं।

प्र. रं. : क्या आप लोग अपने घर भी जाती हैं, या यहीं रहती हैं?

जोमो : आजकल तो हमारे गांव में काफी गर्मी है। घर में भी बैठती (जाती) हैं; कभी-कभी पूजा आदि में। सर्दी में तो हम सब इकट्ठी यहां ही मिलती हैं। अभी महीने में एक बार यहां पूजा होती है, उस समय सभी यहां इकट्ठी होती हैं।

प्र. रं. : मतलब घर जा सकती हैं, घर जाने में कोई रोक नहीं है?

बौद्ध भिक्षुणी सुमार

जोमो : रोक नहीं है। घर जाने में रोक नहीं है। कई मंदिरों में है रोक। कई मंदिरों में (सामूहिक) स्टोव है, खाना-पीना सब कुछ वहीं है; वहां तो घर जाना भी मना है। हमारे यहां स्टोव भी नहीं है, कुछ नहीं है। इसलिए अपना-अपना खाना

बनाना पड़ता है। राशन-पानी सब कुछ अपने घर से लाना पड़ता है। इसलिए घर भी कभी-कभी जा सकते हैं।

प्र. रं. : तो अभी कितनी जोमो हैं यहां पर?

जोमो : यहां 30-40 हैं। अभी आधी लद्दाख में रहती हैं। जो छोटी लोग [कम उम्र की जोमो], उसके मीडियम जो बीच वाली हैं, वो धर्मशाला में रहती हैं। मेरी उम्र की कुछ लोग [जोमो] यहां हैं। सात-आठ यहां हैं।

प्र. रं. : सात-आठ हैं?

जोमो : हां, सात आठ हैं। बाकी सब बाहर हैं।

प्र. रं. : नई लड़कियां भी जोमो बन रही हैं या कम हुआ है पहले से?

जोमो : अभी तो नई जोमो कम ही बन रही हैं। अभी जो जोमो हैं, वे 14-15 से 60 साल की हैं।

प्र. रं. : ऐसी क्या बात है, जो लड़कियों को या लड़कों को जोमो या लामा बनने के लिए प्रेरित करती है?

जोमो : नहीं, नहीं; कुछ नहीं। यहां कम्पलसरी नहीं है जोमो बनना। गांव का नियम भी नहीं है। खुद समझकर वो बनती हैं। कोई मां-बाप भी नहीं कहते कि उनकी बेटी जोमो बने। बनना चाहे तो विरोध भी नहीं। सब अपने हिसाब से तय करती हैं।

कोई समझदार हो, तो वह सोचती है कि सांसारिक जीवन में कितनी कठिनाइयां है; फिर कुछ पूजा-पाठ करने का भी टाइम नहीं मिलेगा। वे कृषि-जीवन त्यागना चाहती हैं; इसलिए जोमो बनती हैं। कई बच्चियां भी बनती हैं। मुझे भी जोमो बनना है, बोल के। कोई जबरदस्ती नहीं है। मां-बाप भी जबरदस्ती नहीं करते हैं। यहां गांव में भी जबरदस्ती नहीं है; अपनी मर्जी से बनती हैं।

प्र. रं. : जोमो बनने की प्रक्रिया क्या है? क्या इसके लिए कोई नियम या परंपरा है?

जोमो : प्रारंभ में जो लड़कियां जोमो बनती हैं, उन्हें अपने बाल कटवाने पड़ते हैं। उन्हें रबजुङमा बोलते हैं। शुरुआत में पांच शीलों [नियमों] का पालन करना होता है। लड़कियां जो जोमो बनती हैं, उन्हें गेञेगमा तथा लड़कों को गेञन भी कहते हैं। इसके बाद 36 शीलों [नियमों] का पालन करना होता है। जो बौद्ध भिक्षुणी ऐसा करती हैं, उनको ग्लोयोङमा बोलते हैं। जबकि पुरुष बौद्ध भिक्षु को लड़के को ग्येसुल्फा बोलते हैं। इसके लिए किसी बौद्ध भिक्षु से ज्ञानादि लेने के

बाद दलाई लामा से शिक्षा लेनी होती है। लामा [पुरुष बौद्ध भिक्षु] को गेलङ बोलते हैं और जोमो को गेलङमा बोलते हैं। फिर बारी आती है 364 शीलों/नियमों का पालन करने की। ये नियम भारत में नहीं हैं। (कुछ अन्य स्थानीय लोगों के अनुसार बौद्ध भिक्षुणियों के लिए 311 शील और बौद्ध भिक्षुओं के लिए 227 शील होते हैं - प्र. रं.)

प्र. रं. : 364?

जोमो : हां, 364 नियमों का पालन करना होता है।

प्र. रं. : भारत में नहीं हैं अभी?

जोमो : 364 नियमों का पालन करने, वाला? वो नहीं है, कोई नहीं है। अभी दलाई लामा जी हम लोगों को [ज्ञान] देते भी नहीं हैं। बहुत कठिन है उसको [नियमों का] पालन करना। जैसे हम लोगों को पेंटिंग बनाना, सीखना आदि मना है। और जैसे हम लोगों को गीत गाना मना है; फोन खरीदना मना है; यह (चेहरे पर हाथ घुमाते हुए) [मेकअप] वगैरह सब मना है; डांस करना मना है। बाकी जैसे चोरी आदि नहीं करना तो है ही। बहुत सारे नियम हैं। लेकिन, 364 [नियमों] का पालन बहुत कठिन है। जैसे हमें सामान्य तरीके से रास्ते पर चलने की भी मनाही होती है। बस में जाने को भी मना है। क्योंकि, बस में चढ़ते हैं, तो सीट पर (हाथ से हाथ पर इशारा करते हुए) कोई लड़का छुएगा, तो वो मना है। देखिए, तो ग्लोयोङमा को बहुत कठिनाई है [कठिन नियमों का पालन करना होता है]।

प्र. रं. : विदेशों में कोई है? बाहर कोई है, इंडिया से?

जोमो : हां, विदेशों में है, ऐसा बोलते हैं। दलाई लामा ऐसा बोलते हैं कि विदेशों में है। सभी 364 नियमों को पालन करने वाली जोमो। ग्लोयोङमा भिक्षुणी यहां नहीं है; भारत में नहीं है। मगर बाहर के देश में ग्लोयोङमा है। वहां से परंपरा आनी चाहिए। जैसे हमारे गुरु हैं, जिन्होंने हमें ज्ञान दिया; शिक्षा दी। वैसे ही हम लोग भी चेला [शिष्य] बनाते हैं। दलाई लामा जी खुद केवल देखकर बता सकते हैं कि कौन, कहां से है और क्या वह ग्लोयोङमा [364 नियमों का पालन करने वाली] है या नहीं। (आंख की ओर इशारा करते हुए) नजरों से देख सकते हैं कि कौन ग्लोयोङमा है। हम लोगों को [हमारी भाषा में] भिक्षुणी नहीं बोलते हैं। हम लोगों को तो शम्मेरी बोलते हैं।

प्र. रं. : शम्मेरी?

जोमो : हां, शम्मेरी बोलते हैं। वह भिक्षुणी, जो 364 [नियमों का पालन करती है] उनको शम्मेरी बोलते हैं। जैसे हमें जोमो [बौद्ध भिक्षुणी] ही बोलते हैं;

उधर जो लड़की बोलते हैं न! उसी तरह लड़कियों से अलग जोमो बन गई, तो जोमो ही बोलते हैं।

प्र. रं. : आप किस उम्र में गई थीं दलाई लामा के पास, दीक्षा लेने के लिए?

जोमो : जब 27 साल की थी। अभी तो मेरी उम्र मैं 56 साल है। 27 साल की उम्र में दलाई लामा के पास गई। फिर उस समय यह सब वस्त्र बदल के दलाई लामा के पास हमें ले जाया गया था।

प्र. रं. : कहां, कौन ले जाता है?

जोमो : ग्रुप में जाना पड़ता है। ग्रुप में जाते हैं।

प्र. रं. : दलाई लामा के पास क्या करना पड़ता है?

जोमो : रसीद लेकर, फिर सब मंदिर में पूजा-पाठ करके पूरा जीवन मंदिर में ही रहते हैं।

प्र. रं. : दलाई लामा जी से मिलने, धर्मशाला?

जोमो : हां जी; हां जी।

प्र. रं. : और आप आजीवन अविवाहित रहेंगी?

जोमो : हां जी; हां जी। सिवाय पूजा-पाठ के कुछ भी नहीं करना पड़ता। शादी भी नहीं। कोई एकाध कर ले तो उसे अपना सम्मान [जोमो होने का सम्मान] छोड़ना पड़ता है। दलाई लामा जी से वादा करने के बाद [दीक्षा लेने के बाद] ऐसा [शादी-प्रेम] तो नहीं करना पड़ता है।

प्र. रं. : कुछ बौद्ध साहित्य मैंने पढ़ा है; उसमें कुछ गीत भी हैं कि जो बौद्ध भिक्षुणियों ने बनाए थे; तो और भी कई जानकारियां इसमें मिलती हैं कि बुद्ध ने कहा था, जो बौद्ध भिक्षुणियां हैं; उनको जो पुरुष भिक्षु हैं, उनको नमस्ते करनी पड़ेगी। यानी उनके सामने वे दोयम दर्जे की रहेंगी। मतलब पुरुषों को पहला दर्जा प्राप्त होगा और महिलाओं को दूसरा। ऐसा है क्या?

जोमो : ऐसा कहीं होगा। यहां, हमारे यहां तो नहीं है इतना [भेदभाव]।

प्र. रं. : जितने अधिकार पुरुषों को हैं, उतने आप लोगों को हैं?

जोमो : हां, उतना है।

प्र. रं. : मंदिर में, हर जगह?

जोमो : हां, मंदिर में है। मान लें हेड जो है, पुरुष रहते हैं; वहां उनके अंडर [अधीन] में रहना पड़ता है। जैसे यहां महिलाओं का मंदिर है; यहां हम लोगों का अधिकार है। यहां पूरा हमारे लोगों के ऊपर है। किसी के अधीन में रहने की

जरूरत नहीं है। पर, कहीं पर पुरुष और महिला दोनों साथ में पूजा करने को जाते हैं, वहां फिर हेड लामा है; उसके अधीन रहना पड़ता है।

प्र. रं. : उनके अधीन रहना पड़ता है?

जोमो : हां, उनका कहना मानना पड़ता है।

प्र. रं. : तो ऐसी जगहों पर जाना पड़ता होगा?

जोमो : कहीं-कहीं दोनों [स्त्री भिक्षुणियों और पुरुष भिक्षुओं] को मिलकर पूजा करनी पड़ती है। कहीं भिक्षुणी का मंदिर नहीं होगा, तो अपने-अपने गांव में बैठना पड़ता है। अपने-अपने गांव में बैठकर पूजा करने के बाद लामाओं [बौद्ध भिक्षुओं] के मंदिर में जाना पड़ता है। उस समय भी उसके अधीन में बैठना पड़ता है। क्योंकि, वहां भिक्षुणियों का मंदिर नहीं होता है। जिस गांव में भिक्षुणी का मंदिर होगा, तो उसमें पूजा करेंगे, उनके [बौद्ध लामाओं के] अधीन में बैठने की जरूरत नहीं है।

प्र. रं. : तो उनके अधीन रहने पर क्या-क्या आदेश मानने पड़ते हैं?

जोमो : उनके अधीन रहने पर जैसा दलाई लामा जी ने कहा है, उनके अनुसार करना पड़ता है।

प्र. रं. : मतलब पहले पूजा वो करेंगे, ऐसा कुछ है?

जोमो : हां, पूजा। जैसे सुबह 9 बजे, 9:30 बजे पूजा में जाना पड़ता है। पूजा में जाने के बाद हेड लामा बैठते हैं। हम भी गांव में जाते हैं, गांव में जाते समय हेड लामा के अंडर में बैठना पड़ता है। पूजा करते समय हेड लामा ऊपर बैठते हैं। हम लोग हेड लामा को नमस्कार करके बैठते हैं। फिर चाहे लामा हो या, जोमो हो।

प्र. रं. : अच्छा, इनका खर्च कैसे चलता है गोम्पाओं का?

जोमो : गोम्पाओं का खर्च तो इतना नहीं है।

प्र. रं. : गांव वाले ही डोनेट करते होंगे?

जोमो : हां, गांव वाले सब पूजा-पाठ में देते हैं। यहां जैसे हम लोग पूजा करते हैं, उस समय आकर गांव से खाना खिलाते हैं।

प्र. रं. : अपने बगीचे वगैरह भी होते हैं गोम्पा के?

जोमो : गोम्पा का बगीचा तो नहीं हैं। पहले तो था, अभी नहीं है।

प्र. रं. : इनकी बिल्डिंग बनाने में खर्च लगता होगा, वो?

जोमो : हां, बिल्डिंग बनाने में तो हम लोग गवर्नमेंट से मांगकर लाते हैं। जैसे–हिमाचल गवर्नमेंट, सेंट्रल गवर्नमेंट से मांग-मांगकर बना लेते हैं।

प्र. रं. : जैसे यह बिल्डिंग नई लग रही है, इसके लिए सरकार ने दिया था पैसा?

जोमो : हां, हमने गवर्नमेंट से मांग-मांगकर यह बनाई है।

प्र. रं. : बाकी सारा खर्च जो पूजा-पाठ में मिलता है, उसी से चलता है?

जोमो : हां, जो पूजा-पाठ में मिलता है; जो जिस दिन पूजा करेगा, उस दिन पूजा-पाठ में मिलता है। बाकी अपने घर से खर्च करती हैं जोमो लोग।

साक्षात्कार-3

लाहौल घाटी में अवलोकितेश्वर, गुरु घंटापा, शिव और काली

[जून, 2017 की यात्रा में किन्नौर के बाद हमने कुंजूम दर्रे को पार कर लाहौल में प्रवेश किया। इस दौरान दर्जनों कस्बों-गांवों में पड़ाव डाला तथा वहां की बहुत कम ऑक्सीजन, कम पानी और आधुनिक भौतिक सुविधाओं से रहित कठिन जीवन स्थितियों का साक्षात्कार किया। इस जिले में हमारा अंतिम पड़ाव केलंग के पास तांदी गांव में था।

तांदी में मैंने युवा पर्यटन व्यवसायी विक्रम कटोच से बौद्ध धर्म की परंपराओं में हो रहे बदलाव पर बातचीत की। तांदी में ही गुरु घंटापा का गोम्पा है। मैदानी इलाकों में इस विख्यात विद्वान की उपलब्धियों का मजाक उड़ाने के लिए 'गुरु घंटाल' शब्द को ऐसे व्यक्ति की संज्ञा बना दिया गया, जिसके पास कोई ज्ञान न हो, लेकिन वह ज्ञान बांटता फिरे। दरअसल, इन बौद्ध गुरुओं का दर्शन उन दुनियावी छल-प्रपंचों से दूर था, जिसे हिंदुत्व की सिरमौर जातियां अपनी सबसे बड़ी उपलब्धि मानती हैं। यही कारण था कि उन्होंने स्वयं बुद्ध के नाम से भी बुद्धू अर्थात मूर्ख शब्द गढ़ डाला।

बहरहाल, विक्रम कटोच से इस बातचीत में पिछले कुछ वर्षों से यहां हो रहे परिवर्तनों का भी पता मिलता है]

23 जून, 2017

प्रमोद रंजन : आपका क्या नाम है? कहां के रहने वाले हैं आप?

युवा पर्यटन-व्यवसायी : मेरा नाम विक्रम कटोच है। मैं तांदी गांव का रहने वाला हूं। जिला लाहौल स्पीति, हिमाचल प्रदेश।

प्र. रं. : आप क्या करते हैं?

वि. क. : मैं यहां कैंप चलाता हूं। मेरे कैंप का नाम चंद्रभागा कैंप है।

गुरु घंटापा से संबंधित घंडाड़ गोम्पा में पदस्थापित तेनजिंग लामा

प्र. रं. : आपने कहां तक शिक्षा प्राप्त की है?

वि. क. : मैंने एम.बी.ए. किया है ट्रेवल एंड टूरिज्म में। इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टूरिज्म मैनेजमेंट, पूसा (दिल्ली) से।

प्र. रं. : हम इस समय जहां खड़े हैं, इस गोम्पा का क्या नाम है?

वि. क. : नीचे वाली मोनेस्ट्री (गोम्पा) तुपचिलिंग है और ऊपर वाली (ऊपर की चोटी पर स्थित एक दूसरे गोम्पा की ओर इशारा करते हुए) घंडाड़। वह कठिन तप करने के लिए है। वहां जाने के लिए आपको एकदम खड़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ेगी। डेढ़ दो घंटे का समय लगेगा।

प्र. रं. : वह जो ऊपर गोम्पा है, उसके बारे में कुछ और बताएं।

वि. क. : उसका संबंध पद्मसंभव से भी है। कहते हैं कि यहां पर गुरु पद्मसंभव आए थे। लेकिन, अभी तक इसका कोई ठोस प्रमाण नहीं मिला है। हमारे गांव में लोग कहते हैं कि वह गुरु घंटापा से भी संबंधित है।

प्र. रं. : गुरु घंटापा बोलते हैं या गुरु घंटाल?

वि. क. : गुरु घंटापा। स्थानीय लोग जो हैं, वे इसे गुरु घंडाल और गुरु घंडाप भी कहते हैं। लेकिन, मैदानों के लोग इन्हें हिंदी में गुरु घंटाल कह देते हैं।

प्र. रं. : कौन थे ये गुरु घंटापा?

वि. क. : गुरु घंटापा एक प्रसिद्ध ज्ञानी बौद्ध भिक्षु थे। वे लंबे समय तक ध्यान की अवस्था में रहे थे। कल आप लोग (यहां से 45 किमी दूर) उदयपुर गए

त्रिलोकीनाथ मंदिर में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की प्रतिमा, जिनके सिर पर बुद्ध हैं। पिछले कुछ समय से इन्हें शिव के रूप में प्रचारित किया जा रहा है।

थे। वहां से ऊपर की पहाड़ी पर उन्होंने तपस्या की थी। हमारी माइथोलॉजी (मिथकीय कथा) में यह सब है।

एक बार क्या हुआ कि वहां का जो ठाकुर (एक स्थानीय राजा या जमींदार) था, उसने उनको खाने के लिए बुलाया। लेकिन, गुरु घंटापा नहीं गए। उन्होंने कहा कि मैं अब इन चीजों से हट चुका हूं, अपने ध्यान-तपस्या में लीन रहना चाहता हूं। उनके इन्कार से वह ठाकुर चिढ़ गया, उसको बुरा लगा कि मैंने उनको बुलाया और वह नहीं आए।

तो उस ठाकुर ने एक लड़की को वहीं पहाड़ी पर भेजा। उसके साथ अच्छे अच्छे पकवान बनवाकर भेजे थे।

प्र. रं. : अच्छा, उनके तप को भ्रष्ट करने के लिए?

वि. क. : हां, उनके तप को भ्रष्ट करने के लिए। धीरे-धीरे उन दोनों को आपस में प्यार हो गया। और फिर उनके दो बच्चे भी हो गए।

प्र. रं. : लाहौल स्पीति की माइथोलॉजी में क्या दर्ज है, क्या उन्होंने विवाह कर लिया था?

वि. क. : नहीं, शादी नहीं हुई। दो बच्चे हुए। तो जो राजा था वहां का, ठाकुर; उसने एक बार फिर से उनको बुलावा भेजा। उसने बहुत बड़ी सभा बुलाई तथा गुरु घंटापा और उनकी संगिनी को उनके बच्चों के साथ आमंत्रित किया। लेकिन, जो गुरु घंटापा थे, वो सिद्ध तांत्रिक थे। तो उनको पता लग गया कि यह मुझे अपनी शक्ति आजमाने के लिए बुला रहा है। हमारी माइथोलॉजी में बताया गया है कि उसके बाद गुरु घंटापा ने अपने दोनों बच्चों को घंटा बनाकर हाथ में ले लिया और अपनी संगिनी को गोद में बिठाकर उड़कर आए और घंडाड़ में स्थापित हो गए। वे बहुत बड़े बौद्ध-विद्वान थे।

प्र. रं. : एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि जो गुरु घंटापा की मोनेस्ट्री है; उसके बारे में कुछ रहस्य जुड़ा हुआ है। वहां कोई पेंटिंग थी?

वि. क. : इस मोनेस्ट्री की छत और दीवारों पर थंका शैली की पेंटिंग्स हैं। लोग बताते हैं कि समय के साथ ये पेंटिंग्स खराब हो गई थीं। उन्हें दोबारा से ठीक कराने के लिए एक चित्रकार को बुलाया गया। वह चित्रकार मनाली या कुल्लू के पास का था। जब वह आया, तो उसने मोनेस्ट्री के अंदर की सभी पेंटिंग्स कम्पलीट (दोबारा से ठीक) कर दी। वहां गोम्पा की छत पर बनी पेंटिंग मुख्य है, वह बहुत प्राचीन है। तो हुआ यह कि उस चित्रकार ने बाकी पेंटिंग्स सही करके जैसे ही उस मुख्य पेंटिंग पर ब्रश चलाया, तो वह तीसरी मंजिल से नीचे गिर

गया। उसको जल्दी से हॉस्पिटल ले जाया गया। एक्स-रे, इलाज सब कुछ कराया गया, लेकिन वह अच्छी तरह ठीक नहीं हुआ। लेकिन, उस चित्रकार ने कहा कि वह उस पेंटिंग को अवश्य ठीक करेगा। थोड़ा स्वस्थ होने पर वह दोबारा यहां आया। लेकिन, जब दोबारा उसने छत वाली पेंटिंग ब्रश चलाने की कोशिश की, तो वह दोबारा से नीचे गिर गया। इस बार वह बेहोश हो गया।

प्र. रं. : एक व्यक्ति ने मुझे बताया कि गुरु घंटापा मोनेस्ट्री से संबंधित जो सारी सामग्री है, वह यहां (तुपचिलिंग गोम्पा में) लाई गई है। कहां रखी गई है, वह सारी सामग्री?

वि. क. : (तुपचिलिंग गोम्पा के पास बने एक बंद पड़े कमरे की ओर इशारा करते हुए) यहां लाई गई है। इस कमरे के अंदर हैं, वे सभी चीजें।

प्र. रं. : क्या-क्या चीजें हैं?

वि. क. : यहां पर कुछ मूर्तियां हैं। वे मूर्तियां लाई गई हैं, और मुख्य रूप से (कमरे के बराबर में बने तुपचिलिंग गोम्पा से दाईं ओर इशारा करते हुए) यहां पर नीचे जो चंद्र और भागा नदी का जो संगम है, वहां से सदियों पहले एक अवलोकितेश्वर की मूर्ति भी मिली थी, जो खंडित है। उसको भी यहां लाकर स्थापित किया गया है।

प्र. रं. : यहां भी मैं अवलोकितेश्वर की मूर्ति देख रहा हूं। बौद्ध-परंपरा में इनका बहुत महत्व है। लेकिन, कल जब मैं त्रिलोकीनाथ गया था, तो मैंने वहां देखा कि अवलोकितेश्वर की मूर्ति को शिव कहकर पूजा जा रहा है। त्रिलोकीनाथ में भी तो अवलोकितेश्वर की ही मूर्ति है न?

वि. क. : आप ठीक कह रहे हैं। जो हिंदू धर्म को मानते हैं, वे लोग शिव के रूप में इस मूर्ति की पूजा और संबंधित कर्मकांड करने लगे हैं। आज पूरे भारत में यह मंदिर हिंदुओं के त्रिलोकनाथ मंदिर के नाम से प्रसिद्ध हो गया है; जबकि बौद्ध धर्म को मानने वाले लोग अवलोकितेश्वर कहते हैं। भारत ही नहीं, बौद्ध धर्म मानने वाले अन्य देशों में भी त्रिलोकनाथ की प्रतिष्ठा बौद्ध-परंपरा के अनुरूप है। बाहर के देशों में त्रिलोकनाथ मंदिर को फाग्फा चिरंज़िग और गरजा फाकपा कहते हैं।

प्र. रं. : अवलोकितेश्वर सिर के ठीक ऊपर किनकी मूर्ति बनी है? मुझे त्रिलोकीनाथ में पुजारी ने बताया कि वे अन्न देवता हैं, जो शिव के सिर पर विराजमान हैं।

वि. क. : सर! यह वो लोग (हिंदू) कहते हैं कि नीचे जो मूर्ति है, वह शिव की है और उनके सिर पर कोई अन्न देवता हैं। परन्तु, बुद्धिस्ट मान्यता में यह

स्पष्ट है कि यह अवलोकितेश्वर हैं। बौद्धों के अनुसार त्रिलोकनाथ मंदिर में जो अवलोकितेश्वर की मूर्ति है, उसके सिर पर अमिताभ बुद्ध (होद् फाग् मेद्) हैं। इस संबंध में कई किताबें उपलब्ध हैं। यहां घर-घर में यह बात लोग जानते हैं। सच कहिए तो हिंदुओं के पास सिर वाली मूर्ति की कोई व्याख्या नहीं है। अभी वे तुक्के ही लगा रहे हैं। कोई गंगा कहता है। लेकिन, वह स्त्री का फिगर नहीं है। कोई कहता है कि यह बाद में छेड़छाड़ करके बना दिया गया है। यदि कोई बड़ा हिस्टोरियन (या सत्तापक्ष का बड़ा राजनेता भी) डिक्लेअर कर देगा, तो लोग उसी को सच मानने लग जाएंगे।

प्र. रं : इस संबंध में आपसे और बातचीत करने के लिए इच्छुक हूं; लेकिन अभी मुझे दूसरे गोम्पा के लिए जाना है। क्या कल मिलने का समय निकाल पाएंगे?

वि. क. : हां, क्यों नहीं। कल सुबह मिलते हैं। कुछ और चीजें भी आपको दिखाऊंगा।

24 जून, 2017 की बातचीत...

प्र. रं. : क्या आप जानते हैं कि बौद्ध-दर्शन में अवलोकितेश्वर का क्या महत्व है?

वि. क. : इतनी जानकारी तो मुझे नहीं है। मैं अभी इन चीजों पर अध्ययन कर रहा हूं। परन्तु, इतना तो स्पष्ट ही है कि यह बौद्ध धर्म का है। अभी मैं भूटान गया था। वहां भी काफी सारे बौद्ध हैं, वहां जो बौद्ध संप्रदाय हैं, वे भगवान बुद्ध की पूजा नहीं करते। वे पद्मसंभव या अवलोकितेश्वर को ज्यादा मानते हैं।

प्र. रं. : हां, हां। बिलकुल आपने ठीक कहा। किन्नौर में कुछ ऐसे बौद्ध संप्रदाय हैं, जो दलाई लामा को नहीं मानते। क्या लाहौल स्पीति में भी ऐसे संप्रदाय हैं? आप उनके नाम बता सकते हैं?

वि. क. : ऐसा नहीं है कि यहां लोग दलाई लामा को नहीं मानते। असल में तिब्बती बौद्ध धर्म के चार उप-संप्रदाय हैं–न्यिन्गमापा, सक्यापा, डुग्पा और गेलुगपा। लाहौल में अधिसंख्य डुग्पा संप्रदाय के अनुयायी हैं। दलाई लामा गेलुगपा संप्रदाय के हैं। फिर भी दलाई लामा को लाहौल में पूरी मान्यता है। दलाई लामा को नहीं मानने वाले लोग विश्व में अन्यत्र हैं। यहां नहीं।

प्र. रं. : लाहौल में कौन-सा बौद्ध-संप्रदाय अधिक सक्रिय है?

वि. क. : लाहौल में हीनयानी बौद्ध नहीं है। सभी महायानी हैं। यहां तिब्बती तांत्रिक लामावादी बौद्ध धर्म है, जो कि महायान की एक शाखा वज्रयान

से विकसित हुआ।

प्र. रं. : त्रिलोकीनाथ मंदिर के बारे में थोड़ा बताइए। कल मैं वहां गया था, तो मंदिर प्रांगण में ब्राह्मण पुजारी कर्मकांड करवा रहे थे; लेकिन लामा नहीं मिले थे। वहां जो लामा हैं, वो कहां के रहने वाले हैं?

वि. क. : यहां पर जितने भी लामा नियुक्त होते हैं, सब लद्दाख के होते हैं।

प्र. रं. : सारे लोग (लामा) लद्दाख से आते हैं?

वि. क. : हां, वो सारे लद्दाख से आते हैं। अभी हाल में मैं भी त्रिलोकीनाथ गया था। दरअसल, आजकल वहां कोई लामा है ही नहीं। कोई दूसरा बंदा वहां पर है। वहां लामा कोई नहीं है आजकल।

प्र. रं. : मैंने वहां देखा कि जो गर्भगृह है; वहां हिंदू पुरोहित बैठता है। और गर्भगृह के बाहर एक सीट बौद्ध धर्मगुरु लामा के लिए निर्धारित है। ऐसा लगता है कि वहां कभी बौद्ध और ब्राह्मण पुरोहितों में संघर्ष हुआ होगा और किसी समझौते के तहत ब्राह्मणों ने गर्भगृह में जगह बना ली और लामा की जगह बाहर सुनिश्चित कर दी गई। हालांकि, आज वहां ऊपरी तौर पर आपसी सामंजस्य और भाईचारा है। बहरहाल, त्रिलोकनाथ में जो हिंदू पुरोहित होता है, क्या वह ब्राह्मण होता है?

वि. क. : त्रिलोकीनाथ मंदिर के गर्भगृह में पुरोहित को बैठते हुए मैंने नहीं देखा। अब बैठने लगा हो, तो मैं नहीं जानता। वहां लामा बैठता है और उसकी

त्रिलोकनाथ में बोधिसत्व अवलोकितेश्वर की प्रतिमा है। यह बौद्ध परंपरा का एक प्रमुख स्थल रहा है। इसके प्रांगण में कर्मकांड करवाते ब्राह्मण

नियुक्ति कुछ बौद्ध संगठनों के माध्यम से होती है। प्रायः कारगिल के जंस्कर से ही लामा नियुक्त होते रहे हैं। अभी हाल ही में डुगपा संप्रदाय के हेडक्वार्टर ने वहां अपना एक शिष्य नियुक्त किया है। वह शिष्य लाहौल से ही है। हां, कुछ विशेष लोक-उत्सवों और लोकाचार में वहां के हिंदू पुजारी की विशेष भूमिका रहती है। तब वहां आदिम शमनिस्टिक अनुष्ठान होते हैं। मंदिर से बाहर बलि भी चढ़ती है। और पुजारी और गुर (गुर उस व्यक्ति को कहते हैं, जिस पर देवता अवतरित होते हैं) पर देवता अवतरित होते हैं। स्थानीय भाषा में इस देवता को भ्यार भी कहते हैं। इसका मौजूदा हिंदू एवं बौद्ध मान्यतााओं कोई सीधा संबंध नहीं दिखता। यह प्राचीन आदिवासी अनुष्ठान हैं। लेकिन, दोनों धर्मों के लोग इसमें शामिल होते हैं।

प्र. रं. : इस इलाके में ब्राह्मण हैं? वे कहां से आए? इन इलाकों में तो ब्राह्मण थे नहीं।

वि. क. : इस इलाके में हिंदू हैं। जो पटन घाटी है; आप आगे जाएंगे, वहां ब्राह्मण हैं। वहां हिंदुओं में ब्राह्मण के अतिरिक्त राजपूत और दो शूद्र वर्ग के लोग भी रहते हैं। वहां सभी अपर कास्ट हिंदुओं; मुख्यतः ब्राह्मणों को–स्वांगला नाम से पुकारा जाता है। वहां अपर कास्ट की भाषा पटनी है। उस इलाके के बुद्धिस्ट भी पटनी ही बोलते हैं। लेकिन, उनके और हमारे उच्चारण में थोड़ा-बहुत अंतर है। वहां के अपर कास्ट हिंदुओं का सरनेम शर्मा आदि है; पंडित कहते हैं उन्हें हम! पहले वे लोग अपने आपको बहुत ऊंची जाति का मानते थे तथा अन्य हिंदुओं के साथ भी ज्यादा घुलते-मिलते नहीं थे। बहुत छुआछूत रखते थे। लेकिन, अब वे चीजें बहुत कम हुई हैं। मगर, थोड़ा-बहुत तो अभी भी है ही यह सब।

प्र. रं. : तो ये ब्राह्मण निचले इलाकों से आए हैं?

वि. क. : नहीं, पुराने लाहौल में भी ब्राह्मण मौजूद थे। 1974 से पहले थिरोट तक लाहौल की सीमा थी। परंतु उसके बाद चंबा के कई गांवों को लाहौल में शामिल कर दिया गया, जिसमें हिंदू लोग अधिक थे। लाहौल काफी समय तक लद्दाख के अंतर्गत रहा। उसके बाद यह पंजाब में चला गया। जब हिमाचल प्रदेश बना, उसके बाद लाहौल स्पीति घाटी को एक जिला बना दिया गया। आप देखोगे कि लाहौल स्पीति की ज्योग्राफी भी बिलकुल अलग है। आप (यहां) लाहौल में देखोगे कि बुद्धिज्म का ज्यादा दबदबा है। हिंदुइज्म बिलकुल नहीं है। तो यहां पर जो तोद बेल्ट है, तोद वैली (तोद घाटी) और तिनन वैली है, यहां सारे (लोग) बुद्धिज्म को मानते हैं। परन्तु, यहां पर जहां से पटन वैली शुरू होती है, वहां पर

हिंदुइज्म और बुद्धिज्म दोनों ही घुलमिल गए हैं। यहां दोनों ही मान्यताओं के लोग रहते हैं। न तो वो पूरी तरह से हिंदू हैं और न ही पूरी तरह से बुद्धिस्ट हैं।

प्र. रं. : त्रिलोकनाथ के निकट ही स्थित उदयपुर गांव में एक मृकुला देवी मंदिर है। उस मंदिर में पुरोहित कौन होता है; ब्राह्मण होते हैं? वह मंदिर भी प्राचीन बौद्ध परंपरा है। वहां लगे एक बोर्ड में यह लिखा भी है।

वि. क. : हां, वहां भी ब्राह्मण होते हैं। वह शक्ति पीठ है। वहां जो मूर्ति है, हिंदू उसे महिषासुर मर्दिनी कहते हैं।

प्र. रं. : मैंने कल उदयपुर में मृकुला मंदिर के सामने लगे बोर्ड की एक तस्वीर अपने मोबाइल-कैमरे से उतारी थी। वह बोर्ड वहां हिमाचल प्रदेश सरकार के पर्यटन एवं नागरिक उड्डयन विभाग के सौजन्य से लगाया गया है। मैं उस बोर्ड में लिखी बातें आपको पढ़कर सुनाता हूं। बोर्ड पर ऊपर बड़े अक्षरों में लिखा है–'हर गांव की कहानी', शायद इस तरह के बोर्ड इस विभाग ने अनेक गांवों में लगाए होंगे। उसके बाद लिखा है 'मृकुला देवी मन्दिर, गांव उदयपुर, लाहौल-स्पीति' (मैंने उन्हें उस बोर्ड में लिखी बातें पढ़कर सुनाईं) उसके नीचे बोर्ड पर लिखा है कि–*"जिला लाहौल-स्पीति के मुख्यालय केलांग से 56 किलोमीटर दूर स्थित है, खूबसूरत गांव उदयपुर। इस गांव में मृकुला देवी का प्रसिद्ध प्राचीन मंदिर स्थित है, जिसे सातवीं शताब्दी में बनाया गया है। यह मंदिर प्राचीन काष्ठ कला का अद्भुत उदाहरण है। मंदिर में स्थापित मूर्ति को मां महिषासुरमर्दिनी के नाम से भी जाना जाता है। ऐसा माना जाता है कि यह मूर्ति अष्टधातु से बनी है।*

श्रद्धालु यहां मंदिर में श्रद्धा अनुसार पूजा-अर्चना करते हैं। कोई महिषासुरमर्दिनी मां के नाम से, तो कोई नवदुर्गा भवानी के नाम से पूजा करते हैं। ऐसी मान्यता है कि मां काली खप्पड़ वाली कलकत्ते से आई हैं, जिसका प्रमाण मंदिर प्रांगण में शिला पर बने पैरों के निशान हैं। उसके बाद ऐसा निशान (कापुंजी) नामक स्थान पर है। ऐसा निशान चिनाब नदी के पार भी है तथा उसी सीध में पहाड़ी पर भी चरण चिह्न हैं। ऐसा भी बताया जाता है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी इन्हें (दोरजेफामो) के नाम से पूजते हैं। यहां चिरकाल से एक गोम्पा रहा है। ऐसी मान्यता है कि गुरु पद्मसंभव ने प्रवास के दौरान यहां गोम्पा में पूजा-अर्चना एवं सिद्धियां की होंगी। बौद्ध धर्म ग्रंथों में उदयपुर में चिना एवं मियाडवाला नदी के संगम स्थल को तान्दी संगम से भी पवित्र माना गया है। उदयपुर गांव कभी मारूल या मर्गुल कहलाता था।

इसके नामकरण के बारे में ऐसा बताया जाता है कि एक बार चम्बा नरेश

मृकुला देवी मंदिर, जो मूलतः एक बौद्ध गोम्पा है; के सामने सरकार द्वारा लगाया गया यह बोर्ड पुरातात्विक साक्ष्यों की अवहेलना कर इसे हिन्दू मंदिर के रूप में स्थापित करने के लिए कई नई कहानियां गढ़ता है

राजा उदयसिंह प्रवास पर आए। राजा ने मां मृकुला के मंदिर में दर्शन करने के उपरान्त वहां प्रांगण के साथ (सहो) नामक स्थान पर आकर आदेश जारी किया कि

आज के बाद यह गांव उदयपुर कहलाएगा। तबसे यह गांव उदयपुर के नाम से प्रसिद्ध है।

इस गांव के उत्तर दिशा में मंदिर के साथ एक चरणामृत-सा चश्मा (पानी का स्रोत) है। एक अन्य प्राचीन चश्मा गांव की पूर्व दिशा में है, जो कोईडी मूर्ति के नाम से प्रसिद्ध है। यह संयोग ही है कि दोनों चश्मों के साथ-साथ विशालकाय कायल के पेड़ हैं, जो आज भी मौजूद हैं। उदयपुर गांव के दक्षिण-पश्चिम से चिनाब नदी बहती है।"

इस बोर्ड की भाषा से साफ मालूम चलता है कि हिंदू-परंपरा को जानबूझकर बौद्ध-परंपरा पर आरोपित किया जा रहा है और यह सरकारी स्तर पर किया जा रहा है। वह पुरातात्विक महत्व का स्थल है। पुरातत्व विभाग ने उसे संरक्षित घोषित किया है, उनका भी एक बोर्ड मंदिर के बाहर लगा है, लेकिन उस बोर्ड में उन्होंने अपनी पुरातात्विक फांईडिंग्स को दर्ज नहीं किया है। सिर्फ इतना लिखा है कि यह पुरातात्विक महत्व का है तथा जो कोई भी इसे क्षतिग्रस्त करेगा, उस पर 5000 रुपए का जुर्माना किया जाएगा।

लेकिन, नागरिक उड्डयन विभाग का बोर्ड बिना किसी पुरातात्विक साक्ष्य के एक पूरी कहानी आरोपित कर रहा है। वह दबे स्वर में यह स्वीकार करता है कि *"बौद्ध धर्म के अनुयायी इन्हें (दोरजेफामो) के नाम से पूजते हैं। यहां चिरकाल से एक गोम्पा रहा है। ऐसी मान्यता है कि गुरु पद्मसंभव ने प्रवास के दौरान यहां गोम्पा में पूजा-अर्चना एवं सिद्धियां की होंगी। बौद्ध धर्म-ग्रंथों में उदयपुर में चिना एवं मियाडवाला नदी के संगम स्थल को तान्दी संगम से भी पवित्र माना गया है।"* लेकिन, सरकारी तंत्र का मुख्य जोर तांदी संगम को अधिक पवित्र बताने तथा मृकुला देवी के गोम्पा को महिषासुर-मर्दिनी के मंदिर के रूप में स्थापित करने पर है। मैंने उस मंदिर में महिषासुर मर्दिनी की कथित मूर्ति भी देखी। दरअसल, बौद्ध परंपराओं विशेषकर आपकी महायानी तिब्बती परंपरा से अनेक चीजें हिंदू परंपराओं ने ग्रहण की हैं और उन्हें नई कथाएं गढ़कर विकृत किया है। उन्हीं में एक यह मूर्ति भी है। बौद्ध परंपराओं में इसकी कोई और कथा रही होगी। आपको क्या लगता है?

वि. क. : हां, शायद ऐसी ही है। मैंने उस बोर्ड पर ध्यान नहीं दिया। बौद्ध उसे मरीचि वज्रवाराही (दोरजे फाग् मो) मानते हैं।

प्र. रं. : लाहौल के इस क्षेत्र में जातियां कौन-कौन सी होती हैं?

वि. क. : इस क्षेत्र में चार जातियां हैं–बौद्ध, ब्राह्मण, चिनाल और लोहार।

चिनाल और लोहार लोअर कास्ट के हैं।

प्र. रं. : लोहार क्या करते हैं? मैदानी इलाकों की भांति लोहे का काम ही?

वि. क. : लोहारों का काम कुदाल आदि, कृषि में जो भी औजार काम आते हैं, उन्हें बनाना था। लेकिन, अब ये लोग भी मशीनों से खेती के चलते दूसरी नौकरियों-पेशों में जाने लगे हैं।

प्र. रं. : मुझे किन्नौर में बताया गया कि वहां लोहार दोनों काम करते हैं, लोहे का भी और सोने का भी?

वि. क. : हां, बिलकुल; बिलकुल। यह सही बोला आपने, बिलकुल।

प्र. रं. : और चिनाल, यह कौन-सी जाति होती है?

वि. क. : चिनाल, चिनाल। यह लोग वाद्य यंत्रों में भी माहिर होते हैं। जो स्थानीय वाद्य यंत्र होते हैं, उनको बजाने में माहिर होते हैं।

प्र. रं. : तो देवताओं की पूजा में भी?

वि. क. : हां, देवताओं की पूजा में वे ही लोग वाद्य यंत्र बजाते हैं। कुछ ने यह पेशा छोड़ भी दिया है।

प्र. रं. : बौद्ध लोग भी उन्हें बुलाते हैं?

वि. क. : हां, हर पूजा अर्चना में। जैसे, शादी विवाह में, यहां पर कोई भी समारोह होगा, तो वाद्य यंत्रों में माहिर इन लोगों को बुलाया जाता है।

प्र. रं. : बौद्ध गोम्पाओं में भी होता है वाद्य यंत्रों का इस्तेमाल?

वि. क. : हां, बिलकुल; बिलकुल। लेकिन, वो जो वाद्य यंत्र (गोम्पाओं में बजने वाले वाद्य यंत्र) होते हैं, वो सिर्फ लामा ही बजाते हैं।

प्र. रं. : वो (चिनाल) नहीं बजाते हैं?

वि. क. : उसके लिए उनको नहीं बुलाया जाता है।

प्र. रं. : चमङ जाति के लोग नहीं हैं यहां?

वि. क. : चमङ, कौन-सी जाति है; मैं समझा नहीं।

प्र. रं. : मैदानी इलाकों में इससे मिलता-जुलता पेशा करने वाली जाति चमार है। किन्नौर में चमङ जाति के लोग हैं।

वि. क. : नहीं, नहीं; वो यहां लाहौल-स्पीति में, कम-से-कम इस इलाके में तो नहीं हैं।

प्र. रं. : यह कपड़ा बुनने का काम कौन-सी जाति करती है? किन्नौर के कुछ इलाकों में चमङ यह काम करते हैं।

वि. क. : कपड़ा बुनने का काम यहां पर, जैसे–पुराने समय में गर्मियों में

ऊन (बाल) काटते थे भेड़ों की, और सर्दियों में बुनने का काम होता था; यह सब काम हम लोग अपने घरों में खुद ही करते रहे हैं। हालांकि, अब तो बाजार में सब कुछ मिल जाता है।

प्र. रं. : मैदानी इलाकों में गंदगी साफ करने वाली कई जातियां पैदा हुईं। जैसे–भंगी, मेहतर; वैसी कोई जाति यहां है या नहीं?

वि. क. : नहीं, नहीं; यहां ऐसी कोई जाति नहीं है।

प्र. रं. : क्या कारण रहा होगा इसका?

वि. क. : मेरे खयाल से सबसे पहले तो यहां जनसंख्या बहुत कम है। आप देखेंगे कि इस बहुत बड़े क्षेत्रफल वाले इलाके में बहुत कम लोग हैं। जनसंख्या का घनत्व यहां पर बहुत कम है। शायद इसलिए ऐसे कामों की जरूरत ही नहीं पड़ती। परंतु, दस साल पहले तक ये काम घर की महिलाओं द्वारा किया जाता था। वर्तमान में ये सारे काम दूसरे राज्यों से आए मजदूर करते हैं।

प्र. रं. : यहां पहुंचने से पहले हम लोगों ने कई दिन किन्नौर और लाहौल-स्पीति के विभिन्न कस्बों-गांवों में बिताए हैं। मैंने महसूस किया कि इस बौद्ध-क्षेत्र में आरएसएस, विश्व हिंदू परिषद और भाजपा की गतिविधियां बहुत तेज हैं। आपके इलाके में क्या गतिविधियां हैं इन संगठनों की?

वि. क. : आप ठीक कह रहे हैं। अभी इन लोगों ने यहां संगम पर्व शुरू किया है। अभी हाल में विश्व हिंदू परिषद के अध्यक्ष अशोक सिंघल के निधन के बाद उनकी अस्थियां यहां चंद्रभागा नदी के संगम में बहाई गईं। जबकि इस इलाके उनका कोई जुड़ाव नहीं था। वो लोग मेरे खयाल से अपने स्पष्ट एजेंडे को यहां पर लेकर आ रहे हैं। पर, हमें जो भी नए एजेंडे आदि आ रहे हैं, हमें उससे कोई प्रॉब्लम नहीं है; जब तक कि वो पुरानी चीजों को चैलेंज नहीं कर रहे हैं।

प्र. रं. : पुरानी चीजें जैसे क्या?

वि. क. : पुरानी चीजें, जैसे–पुरानी मान्यताएं हैं; पुरानी मोनेस्ट्रीज हैं; बौद्ध धर्म से और हमारी परंपरा से संबंधित जो भी पुरानी चीजें हैं।

प्र. रं. : उनको भी चैलेंज कर रहे हैं, वो लोग?

वि. क. : हां, इन चीजों को इन लोगों ने चैलेंज किया है। खास करके हमारे पत्रकार जो हैं; उन्होंने काफी कुछ लिखा। तो मैंने फेसबुक पर रिएक्शन भी दिया था।

प्र. रं. : किस अखबार में छपा यह?

वि. क. : अखबार का नाम मुझे याद नहीं है; पर मैं आपको (उन खबरों

की) कतरनें वगैरह भेज सकता हूं।

प्र. रं. : कौन-कौन से अखबार यहां पर आते हैं?

वि. क. : यहां पर दिव्य हिमाचल, अमर उजाला और दैनिक भास्कर हैं। तो हम किसी भी नई चीज के लिए ओपन (खुले मस्तिष्क वाले) हैं। उन्हें इन चीजों को यहां के लोगों पर छोड़ देना चाहिए कि यहां के लोग कितना स्वीकार करते हैं इन चीजों को; कितना नहीं करते हैं। मगर, पुरानी चीजों को जबरन उखाड़कर नई चीजों की कोशिश नहीं की जानी चाहिए।

प्र. रं. : (चंद्रा और भागा नदी के संगम पर जाकर) यही तांदी संगम है न? (उस समय भी हम एक ऐसी ऊंची जगह पर खड़े थे, जहां से संगम दिखता था)

वि. क. : हां, यही संगम है।

प्र. रं. : इसमें कौन-सी नदी चंद्रा है और कौन-सी भागा?

वि. क. : राइट हैंड साइड (दाएं हाथ की ओर) से जो आ रही है, वह चंद्रा है और इधर से लेफ्ट हैंड साइड (बाएं हाथ की ओर) से जो आ रही है, वह भागा है।

प्र. रं. : तो यहीं पर अशोक सिंघल की अस्थियां उन्होंने विसर्जित की थीं? उसके लिए सभा हुई होगी?

वि. क. : हां, 29 जून, 2016 को यहीं लाकर विसर्जित कीं। सभा हुई थी। इसके बाद ही यहां संगम पर्व मनाया जाने लगा है। अब यहां हर साल वे संगम पर्व मनाने आते हैं। राजनीतिक कारणों से कुछ स्थानीय लोग भी उसमें शामिल होते हैं। दरअसल, अशोक सिंघल का निधन 17 नवंबर, 2015 को हुआ। विश्व हिंदू परिषद द्वारा उनके अस्थि अवशेष को अलग-अलग नदियों में विसर्जित किया गया। तांदी में भी करीब सात महीने बाद अशोक सिंघल की अस्थियां विसर्जित की गईं। इस संबंध में हिंदू नेताओं द्वारा कहा गया कि इसी तांदी संगम पर द्रौपदी ने देह त्यागा था, जब वह अपने पांचों पतियों के साथ स्वर्ग जा रही थीं।

प्र. रं. : क्या करते हैं उस पर्व में?

वि. क. : उस पर्व में नाच-गाना होता है। और बाकी जो यहां की प्राथमिक समस्याएं हैं, जैसे- स्वास्थ्य समस्याएं हैं; शिक्षा को लेकर कई समस्याएं हैं; सड़कों को लेकर कई समस्याएं हैं। उन पर कोई बात नहीं होती है इस संगम पर्व में।

प्र. रं. : अच्छा, सिर्फ नृत्य-संगीत होता है?

वि. क. : धर्मों को लेकर बात होती है। कई धर्मों के लोग इकट्ठे होते हैं यहां पर।

प्र. रं. : तो बौद्ध धर्म के लोग भी शामिल होते हैं इसमें?

वि. क. : हां, बौद्ध धर्म के लोग भी शामिल हो जाते हैं इसमें। सब जाते हैं,

काफी भीड़ होती है।

प्र. रं. : कुछ उदाहरण बताएंगे आप, जैसे कि ये लोग किन चीजों को चैलेंज कर रहे हैं? या कुछ जगहों के नाम बदल रहे हैं या मान्यताएं बदल रहे हैं?

वि. क. : नहीं, मैं पर्टिकुलर किसी बंदे को नहीं कह रहा हूं। इनकी एक पूरी टीम है।

प्र. रं. : हां, वो तो पूरा राष्ट्रीय संगठन है उनका।

वि. क. : उन्होंने यह कहा था कि इस मोनेस्ट्री की जगह पर काली माता का मंदिर था।

प्र. रं. : मतलब, उन्होंने कहना शुरू किया है कि ऊपर, जो गुरु घंटापा वाली मोनेस्ट्री है; वहां पर काली मंदिर था?

वि. क. : हां।

प्र. रं. : काली तो आदिवासियों की देवी हैं।

वि. क. : वहां जो मूर्ति है वह घोड़े पर सवार है। हिंदू धर्म के लोग उसे काली माता की मूर्ति मानते हैं, जबकि बौद्ध धर्मावलम्बी पालदेन लामो कहते हैं। और जैसे उदयपुर में जो मंदिर है, उसके दरवाजे के पीछे दो मूर्तियां लगीं हैं; तो ऐसी मान्यता है कि वो यहां नहाने के लिए आते हैं।

प्र. रं. : कौन?

वि. क. : वो, जो दो वीर (देवता) रहते हैं। ऐसा पौराणिक कथाओं में लिखा गया है। तो उन्होंने (विश्व हिंदू परिषद वालों ने) कहा कि माता आती हैं, यहां पर नहाने के लिए; जो कि गलत है।

प्र. रं. : कहां, यहां संगम पर्व में?

वि. क. : हां। तो ऐसी कई सारी चीजें हैं, जो गलत हैं।

प्र. रं. : तो विरोध नहीं हो रहा है, बौद्ध संगठनों की ओर से या गोम्पाओं की ओर से?

वि. क. : प्रत्यक्ष विरोध तो बिलकुल नहीं हो रहा है। अप्रत्यक्ष तरीके से विरोध हो रहा है। मैं यह मानता हूं कि लाहौल का जैसा इतिहास रहा है कि चाहे वे बुद्धिस्ट हों या फिर हिंदू सभी एक-दूसरे की मान्यताओं का सम्मान करते हैं; आपस में भाईचारा रखते हैं; कोई बाहरी ताकत हमारे लाहौल के इस भाईचारे को बर्बाद न करे।

प्र. रं. : क्या कारण है कि सीधा विरोध नहीं कर रहे हैं लोग?

वि. क. : बुद्धिज्म एक तो शांतिपूर्ण धर्म है। और दूसरा, लोगों के पास

इतना समय नहीं है। खेती-बाड़ी में सब लगे रहते हैं। लेकिन, इन गलत चीजों का आने वाले समय में विरोध तो होगा ही। यह भी हो सकता है कि लोग धीरे-धीरे इन चीजों को स्वीकार कर लें और एक दिन भूल जाएं कि वे एक महान संस्कृति के वारिस थे।

साक्षात्कार-4

पांगी घाटी में नाग, भूत और गोम्पा

[जुलाई, 2018 में हम लोगों ने हिमाचल प्रदेश के चंबा जिले की दुर्गम पांगी घाटी की यात्रा की। इस घाटी तक पहुंचने के लिए भयावहता व खूबसूरती के अनूठे संगम साच दर्रे को पार करना होता है। भौगोलिक दुर्गमता के कारण यह प्रदेश के सबसे पिछड़े इलाकों में से एक है। इस क्षेत्र में भी में कई बौद्ध गांव हैं, जिन्हें भटौरी कहा जाता है। वे और अधिक दुर्गम स्थानों पर बसे हैं। हम हिंदू गांवों के अतिरिक्त उन भटौरियों में गए तथा स्थानीय लोगों से बातचीत कर उनकी सामाजिक-व्यवस्था व संस्कृति को समझने की कोशिश की।]

परमार गांव

आज 2 जुलाई, 2018 को हम पांगी घाटी के परमार गांव में हैं। इस गांव में बौद्धों और हिंदुओं की मिली-जुली आबादी है। कुछ अन्य गांव भी आसपास में ही हैं। जैसे कि परमार भटौरी, सुराल भटौरी, हुडान भटौरी, चस्क भटौरी और हिलुटूवान भटौरी। ये बौद्ध धर्मावलम्बी गांव हैं। फिलहाल हम एक मंदिर में खड़े हैं। हमारे साथ स्थानीय व्यक्ति रमेश हैं।

प्रमोद रंजन : आपका नाम क्या है?

स्थानीय व्यद्रि : रमेश।

प्र. रं. : यह प्राचीन मंदिर है। क्या आप इसके बारे में बताएंगे?

रमेश : इतनी पुरानी जानकारी तो नहीं है।

प्र. रं. : आप इस मूर्ति के बारे में बता रहे थे कि कहां से आई?

रमेश : यह मूर्ति सीधे आकर घुस गई।

प्र. रं. : क्या पहले यह गोम्पा था?

रमेश : नहीं, यही था पहले से। यह (मूर्ति) सीधे उसके मुंह में घुस गई।

प्र. रं. : किसका मुंह था?

रमेश : भूत का।

प्र. रं. : भूत का?

रमेश : हां, भूत के मुंह में सीधे आकर बैठ गई यह मूर्ति। यहां हम कागज पर लिखकर चढ़ाते हैं। जीभ चढ़ाते हैं। बड़े बड़े लामा लोग आते हैं। वही लोग चढ़ाते हैं।

प्र. रं. : कितने दिन में आते हैं वे लामा?

रमेश : वह तो हमारे बुलाने पर निर्भर है। जब खर्चा होगा (इंतजाम हो जाएगा) तो आ जाएंगे।

प्र. रं. : यहां की आबादी कितनी है? मेरा मतलब है कि यहां कितने लोग रहते हैं? और यहां पढ़े-लिखे लोग कितने हैं?

रमेश : करीब 175 लोग हैं यहां। कुछ लोग तो बाहर चले गए। दस-बीस पढ़े-लिखे होंगे।

प्र. रं. : केवल दस-बीस लोग ही? नए बच्चे पढ़ रहे हैं अब?

रमेश : हां, बुजुर्ग लोग तो सभी अनपढ़ हैं। नए बच्चे किलाड़ के स्कूलों में पढ़ते हैं।

प्र. रं. : बौद्ध लोगों में भी जातियां होती हैं?

रमेश : नहीं। हममें कोई जाति नहीं होती।

प्र. रं. : वैसे कौन-कौन सी जातियों के लोग हैं यहां?

रमेश : यहां बुद्धिस्ट और परमार जाति के लोग हैं।

प्र. रं. : परमार मतलब?

रमेश : परमार के लोग पंगवाल हिंदू होते हैं।

प्र. रं. : आप लोग शादी कहां करते हैं?

रमेश : कर लेते हैं। यहां पांगी, किलाड़, स्वात आदि इलाकों में।

प्र. रं. : मतलब आसपास के इलाकों में आप लोग शादी कर लेते हैं?

रमेश : हां, बॉर्डर के इलाकों में भी।

प्र. रं. : बॉर्डर मतलब लाहौल आदि इलाकों में?

रमेश : हां, मयाड़ साइड में भी।

प्र. रं. : मयाड़ कहां है?

रमेश : उदयपुर से आगे है।

प्र. रं. : अच्छा यह बताइए कि यदि आपके गांव के किसी लड़की की शादी

पंगवाल से हो जाए तब?

रमेश : कुछ नहीं होता है।

प्र. रं. : स्वीकार कर लेते हैं?

रमेश : हां जी।

प्र. रं. : ऐसी शादियां हुई हैं?

रमेश : हां जी।

प्र. रं. : फिर उनके जो बच्चे होंगे, उन्हें क्या माना जाएगा?

रमेश : बुद्धिस्ट ही होंगे। बुद्धिस्ट ही माने जाएंगे।

प्र. रं. : लड़के शादी करें, तब भी और लड़की शादी करे तब भी?

रमेश : हां जी। बुद्धिस्ट ही जाति होगी।

परमार भटौरी में ही स्थित एक गोम्पा में

[आसपास के गोम्पाओं में बदलाव हो रहा है। हम कई गोम्पाओं में हिन्दू धर्म की मूर्तियों को देख रहे हैं। स्थानीय लोग इसे स्वीकारते हैं। मैंने इन बदलावों और इनके कारणों को समझने की कोशिश है। हमारे साथ इस समय एक बुजुर्ग हैं]

प्र. रं. : आपका नाम क्या है?

स्थानीय : शेरजंग।

प्र. रं. : यह बौद्ध गोम्पा है न?

शेरजंग : हां जी। यह परमार भटौरी का गोम्पा है।

प्र. रं. : आप ही इस गोम्पा की देखरेख करते हैं?

शेरजंग : हां।

प्र. रं. : यहां जो लोग रहते हैं बौद्ध हैं?

शेरजंग : हां जी।

प्र. रं. : जो यहां रहते हैं, हिन्दू नहीं हैं?

शेरजंग : नहीं, यहां सब हिन्दू ही हैं।

प्र. रं. : लेकिन ये तो कहते हैं कि सब बौद्ध हैं?

शेरजंग : हां, बौद्ध मजहब के हैं। (अचानक) आपके पास दवा होगी?

प्र. रं. : किस चीज की दवा? दवा तो है। आपको क्या परेशानी हो रही है?

शेरजंग : कमजोरी लगती है। देह गर्म रहती है।

प्र. रं. : कहीं आपको बुखार तो नहीं?

परमार भटौरी में शेरजंग

शेरजंग : हां, बुखार है।

प्र. रं. : दवाई तो है गाड़ी में। लेकिन, क्या आपको खाना पच जा रहा है?

शेरजंग : अभी तो खाना खाया जाता है। पहले दांत में दर्द था। किलाड़ गया था, तो वहां दांत निकाल दिया। फिर दस-बारह दिनों तक खाना नहीं खाया गया।

प्र. रं. : मैं आपको बुखार की दवा दे दूंगा। जब बुखार हो, खा लीजिएगा। यहां आसपास दवा की दुकान या अस्पताल नहीं है?

शेरजंग : नहीं, आसपास तो नहीं। किलाड़ में है। वहां पहुंचना हमारे जैसे लोगों के लिए कहां संभव है। इतना लंबा रास्ता है।

प्र. रं. : आपकी उम्र कितनी हो गई?

शेरजंग : साठ-सत्तर साल।

प्र. रं. : सत्तर साल की उम्र हो गई आपकी। पैरों में भी दर्द रहता है?

शेरजंग : हां जी। चल फिर नहीं सकता।

प्र. रं. : तो आप शुरू से यहां गोम्पा में पुजारी हैं?

शेरजंग : हां जी।

[शेरजंग गोम्पा का दरवाजा खोलते हैं। वह प्रार्थना चक्र दिखाते हैं। साथ ही वे गोम्पा में स्थापित मूर्तियों के बारे में बताते हैं।]

प्र. रं. : यहां बौद्धों के कितने गांव हैं?

शेरजंग : पांच गांव हैं।

प्र. रं. : और आपके इस गांव परमार भटौरी में कुल कितने घर हैं?

शेरजंग : तीस घर हैं।

प्र. रं. : बौद्धों का एक गांव सुराल भटौरी भी है न?

शेरजंग : हां, परमार भटौरी के अलावा सुराल भटौरी, हुडान भटौरी, चस्क भटौरी और हिलुटूवान भटौरी। उधर बड़े बड़े गोम्पा हैं।

प्र. रं. : आप तो बुजुर्ग आदमी हैं। क्या आप बताएंगे कि ये बौद्ध लोग कहां से आए?

शेरजंग : हम लोग तो लाहौल से हैं। मयाड़ से हैं।

प्र. रं. : हां, लाहौल में बहुत सारे बौद्ध हैं। अच्छा यह बताएं कि यहां पहले बौद्ध आए या हिन्दू?

शेरजंग : पहले तो यह खाली जगह थी; हजारों साल पहले लोग यहां आए।

[अनुरोध करने पर कि गोम्पा के अंदर क्या है, वे गोम्पा के अंदर का दरवाजा खोलते हैं।]

प्र. रं. : यहां प्रार्थना होती है?

शेरजंग : हां जी; होती है।

प्र. रं. : कौन-कौन से त्योहार मनाते हैं आप लोग?

शेरजंग : हम बुद्ध भगवान और गुरु पद्मसंभव को मानते हैं।

प्र. रं. : आप लोग दलाई लामा को मानते हैं?

शेरजंग : हां जी।

प्र. रं. : यहां दलाई लामा कभी आए थे?

[शेरजंग का जवाब स्पष्ट नहीं। एक तस्वीर, जिसमें स्वास्तिक निशान बना है; उसके बारे में पूछने पर उनका जवाब था कि यह छोटे लामा का है। बगल में एक मूर्ति है, जिसे शेरजंग त्रिलोकीनाथ बताते हैं। एक बगल में मूर्ति है, जो किसी बोधिसत्व की है; जिसे वे गुरु नानक की मूर्ति बताते हैं। एक और मूर्ति के बारे में वे कहते हैं कि यह भी गुरु नानक का एक रूप है। बगल में कुछ किताबें थीं। पूछने पर बताया कि ये धार्मिक ग्रंथ हैं। उन्होंने यह भी बताया कि ये किताबें तिब्बती भाषा में हैं। लेकिन, वो कौन-सी किताबें हैं, इस बारे में वे नहीं बता पाए]

प्र. रं. : यह गोम्पा कितना पुराना है?

शेरजंग : यह तो नया है। एकाध साल पहले बना है।

प्र. रं. : इसके पहले यह कहां था?

शेरजंग : लाहौल से एक गुरु आए थे। उन्होंने बनवाया था। (यह बताते हुए शेरजंग ने उस आदमी की तस्वीर भी दिखाई, जिसने यह नया गोम्पा बनवाया।)

प्र. रं. : लेकिन, यह गोम्पा तो बहुत पुराना रहा होगा?

शेरजंग : हां जी, बहुत पुराना। हजार साल पुराना।

पंगवाल गांव में, जिसे नागों का गांव माना जाता है

[3 जुलाई, 2018; भारत के इतिहास में नागवंश की चर्चा है। कभी भारत पर नागवंश का साम्राज्य हुआ करता था। बाद में जब आर्य भारत आए और उन्होंने यहां के भूगोल पर कब्जा तो किया ही, संस्कृति को भी निशाने पर लिया। एक दिन पहले एक स्थानीय व्यक्ति ने जानकारी दी थी कि यहां कई गांव हैं, जिन्हें नागों का गांव कहा जाता है। हम लोग भी सुबह-सुबह पहुंच गए एक नाग मंदिर में। यह हिन्दुओं का गांव है। हालांकि ये प्रचलित अर्थों में हिन्दू नहीं हैं। देवता और लामावाद के मिश्रण का प्रभाव यहां भी दिखता है। जहां हम खड़े हैं वह मंदिर एक घर का हिस्सा है। हमारी मुलाकात घर की मालकिन से हुई।]

प्रमोद रंजन : आपका नाम क्या है?

स्थानीय महिला (जिनके घर में नाग का मंदिर है) **:** प्रेमा।

प्र. रं. : यह जो नाग मंदिर है, क्या यह आपका पारिवारिक मंदिर है?

प्रेमा : हां जी; खानदानी है। पता नहीं ईश्वर को क्या पसंद आया था। हमारे घर में रह गए। हम सबके जन्म से बहुत साल पहले एक बार एक साधु आए थे। वह (नाग देवता से) पूछ रहे थे : कितने मंदिर हैं तुम्हारे? उस समय सभी भटोरे (गांवों के लोग) थे। साधु ने पूछा कि तुम्हारे पास कितने मंत्र हैं? नाग देवता ने कहा कि मेरे पास कितने मंत्र हैं, तुम पूछने वाले कौन होते हो? ऐसा कहकर नाग देवता ने साधु को डस लिया। इसलिए इस मंदिर का इतिहास जानने वाला कोई नहीं है।

प्र. रं. : क्या नाम है इस नाग देवता का?

प्रेमा : नेवकुन नाग।

प्र. रं. : मैंने सुना है कि इस गांव में एक और नाग मंदिर है?

प्रेमा : इस गांव में तो नहीं। इधर (इशारा करते हुए) ऊपर चढ़ने पर एक माता का मंदिर है।

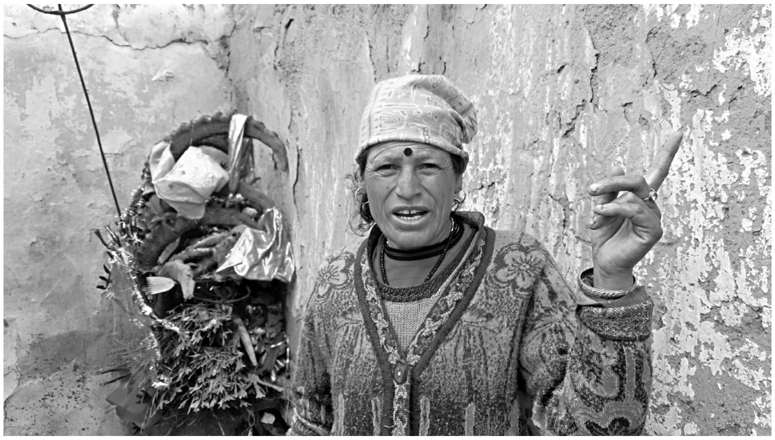

पंगवाल की प्रेमा, जिनके घर में है नाग मंदिर

प्र. रं. : आप बता रही थीं कि यह जो नाग देवता हैं, सबसे बड़े हैं?

प्रेमा : हां, इसके ऊपर एक और नाग मंदिर है। (उनका) नाम है मुंडा।

प्र. रं. : हां, हां; उसी की बात कर रहा था।

प्रेमा : हां, वो मुंडा हैं और यह (महिला के घर में बना नाग मंदिर) उनके पिता हैं।

प्र. रं. : यहां आसपास के गांवों में और भी नाग मंदिर होते हैं?

प्रेमा : हां होते हैं। यहां सुराल में भी है।

प्र. रं. : क्या नाम है उस नाग देवता का जो सुराल में है?

प्रेमा : कुनी नाग।

प्र. रं. : आप लोग कैसे कहते हैं कि कौन बड़ा नाग है और कौन छोटा?

प्रेमा : हां जी; होते हैं। सबसे बड़ा नाग कुनी नाग है। वहां दूर बादल के पीछे पहाड़ी पर।

प्र. रं. : कितना दूर होगा?

प्रेमा : बहुत दूर है। टूरिस्ट तो नहीं ही पहुंच सकते।

प्र. रं. : मैं टूरिस्ट नहीं हूं प्रेमा जी। आपके इस मंदिर में मैं सींग देख पा रहा हूं। यह सींग किस जानवर का है?

एक अन्य स्थानीय नागरिक : कुरवास।

प्र. रं. : आपका नाम क्या है?

नाथूराम : नाथूराम।

प्र. रं. : कहां रहता है यह पशु?

नाथूराम : यह जंगलों में ऊंचाई पर होते हैं और सर्दियों में आते हैं।

प्र. रं. : क्या इसका आकार भैंस जैसा होता है?

नाथूराम : हां, कुछ-कुछ वैसा ही।

प्र. रं. : लेकिन, भैंस से तो बड़ा होता होगा? सींग देखकर ऐसा लगता है।

नाथूराम : हां जी; डेढ़ दो कुंतल का।

एक अन्य स्थानीय युवा नागरिक : मेरा नाम राम सिंह है जी।

प्र. रं. : राम सिंह, आप भी इसी गांव के रहने वाले हैं?

राम सिंह : हां जी।

(इस बीच नाथूराम बताते हैं कि वे बगल के मंदिर के पुजारी हैं)

प्र. रं. : अच्छा, आपका मंदिर किस नाग का मंदिर है?

नाथूराम : नहीं, मेरा मंदिर माता का मंदिर है और यह नाग का मंदिर है।

प्र. रं. : अधिक प्राचीन कौन-सा मंदिर है? माता का मंदिर या नाग का मंदिर?

नाथूराम : अधिक प्राचीन तो नाग देवता का मंदिर ही है।

प्र. रं. : नाग देवता का क्या महत्व है आपके धर्म में?

नाथूराम : हमारे धर्म में सबसे बड़ा नाग देवता को मानते हैं।

प्र. रं. : किस तरह पूजा करते हैं?

नाथूराम : आम तरह से ही। जैसे कि अन्य मंदिरों में करते हैं।

प्र. रं. : मैं इस गांव की सामाजिक स्थिति के बारे में जानना चाहता हूं। इस गांव में किन-किन जातियों के लोग रहते हैं?

नाथूराम : यहां तो एक ही जाति के लोग रहते हैं ज्यादातर।

प्र. रं. : किस जाति के?

नाथूराम : राजपूत।

प्र. रं. : यहां राजपूतों को क्या कहते हैं?

नाथूराम : पंडित कहते हैं। कुछ खुद को राणा भी कहते हैं।

प्र. रं. : तो इसका मतलब यह हुआ कि यहां आसपास एक ही जाति के लोग रहते हैं? क्या यहां शेड्यूल कास्ट के लोग भी रहते हैं?

नाथूराम : हां जी, हां जी; एक जाति है।

प्र. रं. : क्या कहते हैं उनको?

नाथूराम : आर्या जाति।

प्र. रं. : क्या पेशा है उनका?

नाथूराम : पहले तो उनका पेशा नाचना-बजाना था; लेकिन अब सबने छोड़ दिया है। सब एक बराबर के हो गए हैं।

प्र. रं. : जमीनें हैं उनके पास?

नाथूराम : हां जी, वह तो अब हम लोगों से अधिक सुखी-संपन्न हो गए हैं; क्योंकि सारा आरक्षण उनको दे दिया।

प्र. रं. : क्या क्या लाभ मिलता है उनको?

नाथूराम : नौकरी का लाभ मिलता है; उनको नौकरी मिल जाती है।

प्र. रं. : अच्छा, इसी से आगे बढ़े वे लोग। बाकी सबके पास जमीनें एक जैसी हैं?

नाथूराम : हां जी, जमीनें तो सबके पास ही हैं।

प्र. रं. : वैसे यह पूरा इलाका तो शेड्यूल ट्राइब का है। आरक्षण तो सभी को मिलता है। क्या शेड्यूल कास्ट के लिए अलग से कुछ है?

राम सिंह : हां, है; पांच प्रतिशत।

प्र. रं. : जमीनें उनके पास पहले से ही हैं, या अब हुआ है?

नाथूराम : नहीं पहले से ही हैं।

प्र. रं. : तो क्या आपको लगता है कि उनके लिए अलग से आरक्षण का होना गलत है?

नाथूराम : नहीं, वैसे तो ठीक ही है।

प्र. रं. : उनके किसी परिवार से मुलाकात हो सकती है?

राम सिंह : अभी? अभी तो नहीं पता कि होंगे या नहीं होंगे। शायद काम पर निकल गए होंगे।

प्र. रं. : नाथूराम जी, एक समस्या लगभग पूरे देश में है कि एक जाति का लड़का यदि दूसरी जाति की लड़की से शादी कर ले, तो हंगामा खड़ा हो जाता है। मैदानी इलाकों में तो हत्या तक कर दी जाती है। यहां क्या स्थिति है?

नाथूराम : यहां तो ऐसा नहीं है जी। यहां तो सब अपनी ही जाति में शादी करते हैं।

प्र. रं. : लेकिन, यदि कोई राजपूत जाति की लड़की किसी शेड्यूल कास्ट के लड़के से शादी कर ले तो?

नाथूराम : यहां कोई हंगामा नहीं होता।

प्र. रं. : लेकिन, जब उनके बच्चे होंगे तो उनकी जाति क्या होगी?

राम सिंह : ऐसा एकाध मामला हुआ है। बहुत हुआ, तो लड़की को घर नहीं बुलाएंगे; लेकिन मारपीट नहीं करेंगे।

प्र. रं. : मतलब वे अपने गांव में रहें। किसी को कोई दिक्कत नहीं।

राम सिंह : हां जी; कोई दिक्कत नहीं।

प्र. रं. : शादी-विवाह में नहीं बुलाएंगे। पूजा-पाठ में बुलाएंगे?

नाथूराम : पूजा-पाठ में तो पूरा भाग लेंगे। उनका भी तो अधिकार बनता है। मंदिर, पानी और रास्ते पर तो सबका अधिकार है। इन तीन चीजों से किसी को मना नहीं किया जा सकता है। रोक-टोक कर ही नहीं सकते।

प्र. रं. : अच्छा, मैं जरा उन महिला से बात कर लूं, जिनके घर में यह मंदिर है। वह कुछ कहना चाहती हैं।

प्रेमा : हां, हमें कहना है कि सरकार इस मंदिर को बनवाए, देखरेख करे। कोई नहीं करता। यह नाग का नया मंदिर यहां बनना चाहिए। कोई इनको गोद नहीं लेता। न बीजेपी सरकार लेती है, और न ही कांग्रेस।